

# गंधी-मार्ग

विनोबा □ सोमदत्त वेदालंकार

कृष्णनाथ □ डॉ. अनिल पटेल □ पीटर बफेट

नयन चन्दा □ नीति दीवान

सीरिया का सबक

नवंबर-दिसंबर 2013

# गांधी-मार्ग

अहिंसा-संस्कृति का द्वैमासिक  
वर्ष 55, अंक 6, नवंबर-दिसंबर 2013



गांधी शांति प्रतिष्ठान



1. बीच का यह क्षण	विनोबा	3
2. परोपकार का नया धंधा	पीटर बफेट	9
3. तीस साल बाद	नीति दीवान	14
4. सीरिया का सबक	नयन चन्दा	18
5. निरंजन सत्याग्रह	कृष्णनाथ	23
6. पुराना चावल:		
टिमटिमाता नन्हा-सा यह दीपक	सोमदत्त वेदालंकार	33
7. पोथी पढ़ि पढ़ि:		
गांधी-फिशर संवाद	डॉ. अनिल पटेल	41
8. टिप्पणियां		53
9. पत्र		57

वार्षिक शुल्क : भारत में 100 रुपए, दो वर्ष का 190 रुपए, आजीवन-500 रुपए (व्यक्तिगत), 1000 रुपए (संस्थागत) एक प्रति का मूल्य बीस रुपए, डाक खर्च निःशुल्क। दो माह तक न मिलने पर शिकायत लिखें। शुल्क बैंक ड्राफ्ट, मनीआर्डर द्वारा 'गांधी शांति प्रतिष्ठान' के नाम भेजें।

संपादन : अनुपम मिश्र, सज्जा : दिलीप चिंचालकर, प्रबंध : मनोज कुमार झा

गांधी शांति प्रतिष्ठान, 223 दीनदयाल उपाध्याय मार्ग, नई दिल्ली-2 के लिए अनुपम मिश्र द्वारा प्रकाशित

फोन : 011-2323 7491, 2323 7493, फैक्स : 011-2323 6734

Email: gmhindi@gmail.com

मुद्रक : अशोक प्रिंटिंग प्रेस, 2810 गली माता वाली, चांदनी चौक, दिल्ली-06, फोन नं.011-23264968

## बीच का यह क्षण

विनोबा

पांच राज्यों में चुनाव होने वाले हैं। फिर केंद्र के लिए होने वाला चुनाव भी कोई दूर नहीं है। इनमें सभी तरह के दल और सभी तरह के लोग खड़े होते हैं। परिणाम कुछ भी निकले— अनुभव तो अब एक ही है। विनोबा के शब्दों में लोकतंत्र का केवल नाम होता है, उसका रूप नहीं आकार ले पाता। वे तो यहां तक कहते हैं कि आज किसी भी देश को सच्ची आजादी मिली है, ऐसा नहीं मान सकते हम। आज कुछ करेंगे नहीं, कल समाज बदलने पर सब ठीक हो जाएगा— ऐसा मानने वालों को विनोबा बता रहे हैं कि इस बीच वाले, आज वाले क्षण का ही प्रभाव आने वाले कल पर पड़ेगा। आज कुछ किया नहीं तो कल कुछ होने नहीं वाला।

**आज** दुनिया में जो चल रहा है उसे यदि भगवान स्वयं सहन कर लेता है और मैं सहन न करूं— ऐसा तो चलेगा नहीं, यह मैं जानता हूं। फिर भी मेरे लिए तो यह सब असह्य हो रहा है।

आज समाज में जिस तरह व्यवहार चलता है, राजनीति में जो व्यवहार चलता है और धार्मिक क्षेत्र में जो दंभ दिख रहा है— वह सब देखकर मुझे बहुत ही वेदना होती है। इसीलिए मैं अपनी वेदनाओं को आपके सामने स्पष्ट शब्दों में प्रगट कर रहा हूं। बापू के आने के बाद भी आज देश में जिस प्रकार की राजनीति चलती है, वैसी ही यदि चलने वाली हो तो फिर बापू ने आकर किया क्या, वह मेरी समझ में नहीं आ रहा है। उनके इस धरती पर आने से हम जैसों को कुछ लाभ मिला या नहीं मिला?

गांधीजी ने राजनीति को शुद्ध करने के लिए गोखलेजी से एक शब्द लिया था। गोखलेजी ने 'सर्वन्ट्स ऑफ इंडिया सोसायटी' की स्थापना की थी। उस संस्था के उद्देश्य में उन्होंने ही कहा था कि राजकारण को उदात्त बनाना और उसे अध्यात्म की योग्यता देना होगा। उसमें उन्होंने 'राजनीति का शुद्धिकरण' जैसे स्पष्ट शब्दों का उच्चारण किया था। इन शब्दों को बापू ने उठा लिया था।

**आज समाज में जिस तरह व्यवहार चलता है, राजनीति में जो व्यवहार चलता है और धार्मिक क्षेत्र में जो दंभ दिख रहा है— वह सब देखकर मुझे बहुत ही वेदना होती है। इसीलिए मैं अपनी वेदनाओं को आपके सामने स्पष्ट शब्दों में प्रगट कर रहा हूँ।**

राजनीति का शुद्धिकरण करने के जितने प्रयास बापू ने किए थे, वैसे दूसरे किसी व्यक्ति ने किए हों तो मैं नहीं जानता। राजनीति में कार्यरत होते हुए भी सत्य के ऊपर सतत दृष्टि रखकर काम करते रहने वालों में राजा जनक महाराज जैसों का नाम सुनते आए हैं, पर हमने उन्हें देखा नहीं। लेकिन बापू को तो नजर के सामने देखा है, जो सत्य पर से अपनी दृष्टि जरा भी विचलित होने नहीं देते थे, और बस काम करते ही चले जाते थे। उनका कुछ भी असर देश पर या देश की राजनीति पर हुआ है क्या? ऐसा जब मैं सोचता हूँ और ह्रस्व दृष्टि से

देखता हूँ तब उनका बहुत असर हुआ हो— ऐसा मुझे आभास नहीं होता। दीर्घ दृष्टि से देखा जाए तो यह सिद्ध होता है कि असर हुआ है और आगे भी होने वाला है।

अन्य देशों में क्या-क्या चल रहा है, यह तो मैं नहीं जानता। लेकिन अपने देश में जिस ढंग की राजनीति पुरातन जमाने में चलती थी, उससे कुछ भिन्न प्रकार की राजनीति आज चलती है, ऐसा आभास नहीं मिलता। राजनीति के शुद्धिकरण शब्द का अर्थ राजनीति की जगह लोकनीति की स्थापना होना चाहिए। फिर भले ही उसके लिए कितना भी समय क्यों न लग जाए। लेकिन इतना निश्चित है कि आज की यह राजनीति विज्ञान युग में तो बिलकुल चलने वाली नहीं है।

किस राजनीति की बातें आप लोग करते रहते हैं? पाकिस्तान, फ्रांस, रूस, अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों में कौन-सी राजनीति चलती है? वहां तो राजनीति के माने हैं शस्त्रों का खेल। जिस किसी राष्ट्र के पास तीव्र,

सबसे तेज, खतरनाक शस्त्रास्त्र होंगे, उसी राष्ट्र की राजनीति चलने वाली है। यानी कि वास्तव में वह राजनीति तो शस्त्रनीति ही है। विज्ञान युग में भयानक शस्त्रास्त्र पैदा होंगे तो इसका मतलब यही हुआ न कि वे सब देश निःशस्त्र कैसे हो सकेंगे!

शस्त्र कम हों इतना भी नहीं या फिर अमुक बड़े-बड़े शस्त्रास्त्रों का इस्तेमाल ही नहीं हो, इतना भी नहीं। समाज पूरे तौर पर निःशस्त्र किस रीति से बने— इसका विचार करना और उसके लिए जीवन अर्पण करना— इस विचार को सामने रखकर समाज को बनाना, उसी के आधार से समाज और देश खड़ा करने की कोशिश करना यानी लोकनीति की स्थापना। लोकनीति की स्थापना के बिना विज्ञानयुग में राजनीति को शुद्ध करने का कोई दूसरा रास्ता मिल सकता है, ऐसा मुझे नहीं लगता।

आज सब ओर सत्ता का केन्द्रीकरण होता रहा है। यह सब अपने देश में वैलफेयर स्टेट, कल्याणकारी राज्य के नाम से और दूसरे देशों में दूसरे नामों से होता है और जहां लश्करशाही, फौजी हुकूमत चलती है, वहां भी सारी सत्ता कुछेक लोगों के हाथ में ही होती है। लोकतंत्र का केवल नाम होता है। लोकतंत्र का रूप नहीं होता। इस प्रकार लोकतंत्र का तो वह स्वयं ही संहार करती है। नाममात्र का लोकतंत्र रहता है। वस्तुतः लोकतंत्र होता नहीं।

यह खेल सभी राष्ट्रों में चलता है। एक भी राष्ट्र ऐसा नहीं दिखता कि जहां लोकतंत्र उसके मूल अर्थ में विकसित हुआ हो। विज्ञान युग में ऐसा एक राष्ट्र हो भी नहीं सकता। चाहे जितनी बातें राजनीति को सुधारने की आप कीजिए, फिर भी किसी सामान्य देश को भी विशेष प्रकार के हथियार यदि रखना हो तो उस राष्ट्र को अपना सब कुछ छोड़कर शस्त्रों के झमेले में पड़ना पड़ता है। उस राष्ट्र के हाथ में फिर कुछ बचता ही नहीं। फिर अपने देश का आयोजन हम स्वयं न कर सकेंगे। वह हम लोग दूसरों से करवाएंगे। हम कौन-सा खर्च करें या न करें, अथवा तो किस रीति से करें, कम खर्च करें

**किस राजनीति की बातें आप लोग करते रहते हैं? पाकिस्तान, फ्रांस, रूस, अमेरिका, जापान, जर्मनी आदि देशों में कौन-सी राजनीति चलती है? वहां तो राजनीति के माने हैं शस्त्रों का खेल। जिस किसी राष्ट्र के पास तीव्र, सबसे तेज, खतरनाक शस्त्रास्त्र होंगे, उसी राष्ट्र की राजनीति चलने वाली है। यानी कि वास्तव में वह राजनीति तो शस्त्रनीति ही है।**

या अधिक करें— यह सब अपने हाथ में नहीं रहता। वह दूसरे देशों के हाथों में चला जाता है।

अपनी योजना के स्वामी हम नहीं हैं। ऐसी स्थिति आज हरेक देश की हो गई है। आज अमेरिका इतना समर्थ होते हुए भी अपनी योजना खुद नहीं बना पाता। उसे अपनी योजना रूस की ओर देखकर ही करनी पड़ती है। और रूस को भी समर्थ होने के बावजूद अपने देश की योजना अमेरिका की ओर

**अपनी योजना के स्वामी हम नहीं हैं। ऐसी स्थिति आज हरेक देश की हो गई है। आज अमेरिका इतना समर्थ होते हुए भी अपनी योजना खुद नहीं बना पाता। उसे अपनी योजना रूस की ओर देखकर ही करनी पड़ती है। और रूस को भी समर्थ होने के बावजूद अपने देश की योजना अमेरिका की ओर देखकर ही बनानी पड़ती है। अपनी योजना हम स्वयं ही करेंगे, ऐसी स्थिति आज है नहीं।**

देखकर ही बनानी पड़ती है। अपनी योजना हम स्वयं ही करेंगे ऐसी स्थिति आज है नहीं। इसलिए सही अर्थ में, वास्तविक रूप से आज किसी भी देश को सच्ची आजादी मिली है, ऐसा नहीं मान सकते हम।

इसका और कोई इलाज नहीं सिवा लोकनीति के। लेकिन सवाल यह पूछा जाता है कि जब तक लोकनीति की स्थापना नहीं हुई, तब तक इस बीच के समय में हम क्या करें? यह बीच के समय वाला सवाल हमेशा खड़ा हो जाता है।

समझने की जरूरत है कि दुनिया के आरंभ से ही यह बीच वाला समय चलता आया है। गुजरा हुआ कल और आने वाला कल— इस के बीच का जो दिन है वह बीच वाला समय होता है। याने 'आज'। आज है वह बीच वाला समय। गुजरे हुए क्षण और

आने वाले क्षण के बीच में यह जो अभी का क्षण है, वह है बिचौलिया क्षण। यानी हमेशा के लिए, सबके लिए, बीच वाला समय ही, उसके सिवा और कुछ नहीं। वह तो हमेशा चलने वाला है।

अब इस बीच वाले समय के नाम से ही हम यदि मूल वस्तु को खो देंगे, ऐसी वृत्ति हमारी होगी तो जैसे सभी धर्म निकम्मे साबित हो चुके हैं, वैसे ही अहिंसा का यह विचार भी निकम्मा साबित होगा।

आप तो जानते ही हैं कि यूरोप-अमेरिका में ख्रिस्ती धर्म चलता है और ख्रिस्ती धर्म अहिंसा को जितना वजूद देता है, उतना तो शायद ही और कोई धर्म देता होगा। उसने अहिंसा और प्रेम पर बहुत ही स्पष्ट भाषा में जोर

दिया है। वे लोग बाईबल हर रविवार को पढ़ते हैं। बहुत कम लोग ऐसे होंगे जिन्होंने बाईबल अनेक बार पढ़ी नहीं होगी। स्कूल में भी विद्यार्थियों को भाषा की दृष्टि से बाईबल ही सिखायी जाती है। और वहां तो ईसा मसीह का नाम लिया जाता है। उसके लिए उत्सव होते हैं। और फिर साथ-साथ शस्त्रों को भी बढ़ाया जाता है! इस बात का कैसे मेल बैठता है?

कहते हैं कि बीच के समय के लिए ऐसा करना पड़ता है। समाज जब पूर्ण बनेगा, उस समय ऐसा नहीं करना पड़ेगा। ईशु का उपदेश पूर्णता का उपदेश है। यानी जब समाज पूर्ण बन जाएगा तब उसका लाभ मिलेगा। तब तक शस्त्रों को तो बढ़ाना ही पड़ेगा। तभी तो धर्म का रक्षण होगा। न्याय का, सत्य का रक्षण होगा। यानी ईशु के नाम से शस्त्र बढ़ा सकते हैं। लश्कर खड़ा किया जा सकता है, नए-नए शस्त्रों की खोज कर सकते हैं और उसके लिए वैज्ञानिकों को अपना जीवन अर्पण करना चाहिए। यह सब कर सकते हैं। और वह सब करने में ख्रिस्ती धर्म की अहिंसा पर जो श्रद्धा है, उसका कोई विरोध आड़े नहीं आता, ऐसा मानते हैं।

अभी ईशु जो सीख दे रहा है उसका अमल तो समाज जब कभी पूर्ण बनेगा, तभी होगा। अथवा आज के आज यदि ईशु की शिक्षा को अमल में लाना हो तो वह आदमी के व्यक्तिगत जीवन में ला सकते हैं। परंतु सामाजिक दृष्टि से इसका पूर्ण अमल तो तभी होगा जब समाज पूर्ण बनेगा। व्यक्तिगत दृष्टि से उसका अमल आज के आज ही हो सकता है, पर वह भी कुछेक ही कर सकते हैं। सब नहीं। और फिर एक बात और। अहिंसा का जो शिक्षण है, उसका उपयोग आज के समाज में नहीं दिखता, लेकिन परलोक में उसका उपयोग दिखता है यानी मरने के बाद अहिंसा का उपयोग हो सकता है!

यानी एक तो व्यक्तिगत उन्नति के लिए, दूसरा समाज जब पूर्ण बनेगा तब, और तीसरा, आज की अवस्था में, इहलोक में समाज के नाम से शस्त्रास्त्र आदि उपयोगी हैं। उसका ईशु की शिक्षा के साथ कोई विरोध नहीं है। बस परलोक में उसका उपयोग है।

जिस प्रकार ये लोग मानते हैं, वैसे ही अपने हिंदु लोग भी सिद्धांत में तो अद्वैत को मानते हैं, लेकिन व्यवहार में उन्हें जातिभेद चाहिए, अस्पृश्यता चाहिए। अलबत्ता विचार करते समय अद्वैत की और शुद्ध अद्वैत की बात करेंगे। एक कहेगा अद्वैत, तो दूसरा कहेगा शुद्ध अद्वैत, यानी की अद्वैत को शुद्ध करें और उसमें से दोषों की कल्पना करते हुए उन्हें भी निकाल दें।



लेकिन व्यवहार में तो अस्पृश्यता, जातिभेद होना चाहिए! इस प्रकार धर्म के मूल भूत विचार का ही छेद होता है। ऐसा ही मुसलमान और बौद्ध-धर्म भी करते हैं।

**जिस प्रकार उन धार्मिकों की मान्यता है, उसी प्रकार की मान्यता सभी राजनीतिज्ञों की भी है और उसी प्रकार का रुख यदि गांधी-विचार को मानने वाले भी अपनाएंगे तब तो मुझे तोबा-तोबा ही कहना पड़ेगा।**

धर्म के विचार बीच वाले समय की दृष्टि से समाज के लिए काम के नहीं हैं। वे तो परलोक के लिए काम के हैं। व्यक्तिगत उन्नति के लिए थोड़े बहुत, दो चार लोगों के लिए आज भी काम के हैं, लेकिन समाज के लिए तो आज की दशा में वह शिक्षा काम में नहीं आने वाली! समाज जब पूर्णता की ओर पहुंचेगा तभी ये विचार काम में आएंगे।

जिस प्रकार उन धार्मिकों की मान्यता है, उसी प्रकार की मान्यता सभी राजनीतिज्ञों की भी है। और उसी प्रकार का रुख यदि गांधी-विचार को मानने वाले भी अपनाएंगे, तब तो मुझे तोबा-तोबा ही कहना पड़ेगा। उसमें भी वह गांधी के नाम से चले तो मेरे मन में आता है कि धरती माता फट जाए और मुझे अपने भीतर ले ले तो अच्छा!

पंद्रह दिसंबर सन् 1958 को बलोल, गुजरात में दिया गया भाषण। यह लेख हमें मुंबई के श्री डेनियल माझगांवकर के सौजन्य से मिला है।



# परोपकार का नया धंधा

पीटर बफेट

बड़े-बड़े कारखानों में तरह-तरह की चीजें बनाना, फिर उन्हें बेचकर पैसा कमाना, व्यापार करना अब पुराने जमाने की बातें हैं। अब तो कुशल व्यापारी सीधे रुपए की फसल बोते हैं और रुपया काट कर ले जाते हैं। इस धंधे को निवेश कहा जाता है। निवेश के इस नए धंधे में सबसे सफल निवेशक श्री वॉरेन बफेट माने गए हैं। उन्हें दुनिया का तीसरा सबसे अमीर आदमी गिना गया है। लेकिन व्यापार की दुनिया उन्हें अपने बीच संयमी व्यापारी की तरह पहचानती है। कभी उन्होंने प्रण कर लिया था कि वे अपनी बेशुमार दौलत का निन्यान्वे प्रतिशत भाग परोपकार के काम में लगा देंगे। उन्होंने इसे पूरा भी कर दिखाया। फिर उनसे प्रेरणा लेकर उन जैसे कई और रईसों ने भी अपनी पूंजी को परोपकार में लगाने का फैसला लिया। वॉरेन बफेट ने अपने दान के एक बड़े हिस्से को बांटने की जिम्मेदारी अपने छोटे बेटे श्री पीटर को सौंप दी। इस जिम्मेदारी ने पीटर को एक नई दुनिया में ला खड़ा किया— परोपकार की दुनिया। और लो पीटर ने इसे रेत का खंबा मान लिया है।

मेरे जीवन की गति कुछ और ही थी। मेरा ज्यादातर समय बीतता था फिल्म, टी.वी. और विज्ञापन की दुनिया के लिए संगीत रचने में। अति धनवान लोगों के परोपकार की दुनिया से मेरा परिचय न के बराबर था। फिर सन् 2006 में यह सब अचानक बदल गया। उस साल मेरे पिता वॉरेन बफेट ने अपने किए वायदे के मुताबिक संचय की हुई अपनी लगभग सारी धन-दौलत समाज को लौटा दी। अनेक सामाजिक संस्थाओं को उन्होंने कई विशाल अनुदान तो दिए

ही, साथ ही अपनी तीन संतानों के नाम पर तीन अलग-अलग संस्थान बनाए और इनमें भी पिताजी ने अपनी कमाई का ढेर सारा पैसा डाल दिया। हर संतान को एक-एक संस्था चलाने का भार भी सौंप दिया।

**दानवीर लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि वे तो किसी भी जगह की किसी भी समस्या का समाधान कर सकते हैं। इन्हें इस जगह के बारे में कुछ भी समझ या जानकारी हो या न हो। समस्या चाहे कुछ भी हो। खेती के नए तरीके हों शिक्षा हो, किसी धंधे का प्रशिक्षण हो, या व्यापार का विकास ही हो— मैं बार-बार एक ही राग सुनता था। दानी लोग किसी एक जगह काम कर चुके विचारों को किसी दूसरी जगह बस ज्यों का त्यों उतार देने, लाद देने के लिए बेताब दिखाई पड़ते थे।**

परोपकार के इस नए रास्ते पर निकलते ही मेरी पत्नी और मुझे कुछ नया दिखने लगा। धीरे-धीरे हम इसे ठीक से समझने लगे। और तब हमने इसे नाम दिया— 'परोपकार का उपनिवेशवाद'। मुझे समझ में आया कि दान देने वालों में कुछ कर दिखाने की उत्तेजना, छटपटाहट होती है। उन्हें लगने लगता है कि दुनिया उनके बचाए ही बचेगी। मुझ जैसे ही ये दानवीर लोग ऐसा सोचने लगते हैं कि वे तो किसी भी जगह की किसी भी समस्या का समाधान कर सकते हैं। इन्हें इस जगह के बारे में कुछ भी समझ या जानकारी हो या न हो। समस्या चाहे कुछ भी हो। खेती के नए तरीके हों, शिक्षा हो, किसी धंधे का प्रशिक्षण हो, या व्यापार का विकास ही हो— मैं बार-बार एक ही राग सुनता था। दानी लोग किसी एक जगह काम कर चुके विचारों को किसी दूसरी जगह बस ज्यों का त्यों उतार देने, लाद देने के लिए बेताब दिखाई पड़ते थे। उस नई जगह की संस्कृति,

भूगोल और सामाजिक कायदे समझे बिना। इस काम में पिता से मिले इतने सारे रुपयों को बांट देने के बाद अब मुझे लगने लगा है कि इस तरह के परोपकार से समाज को लाभ तो छोड़िए, कुछ और बहुत बड़ा नुकसान हो रहा है।

मेरे पिता की कीर्ति और सफलता की वजह से मुझे कुछ अनपेक्षित पद मिल गए हैं। परोपकार पर होने वाले लगभग हर महत्वपूर्ण सम्मेलन, बैठकों, गोष्ठियों या मेल-मिलाप में सरकारों के मुखिया हम बड़े व्यापारी, उद्योगपति और निवेशकों के साथ बैठते हैं। सबके सब अपने दाहिने हाथों से उन समस्याओं का हल ढूंढते हैं, जो उसी बैठक में मौजूद लोगों ने अपने बाएं हाथ से बनाई हैं! ढेर सारे आंकड़े हमें हर रोज बता रहे हैं कि सामाजिक ऊंच-नीच और विषमता बढ़ रही है। इसी दौरान बिना लाभ के काम करने वाली संस्थाएं, सामाजिक संस्थाएं भी बढ़ रही

हैं। एक अध्ययन बताता है कि सन् 2001 और 2011 के बीच ऐसी गैर-सरकारी संस्थाओं में 25 फीसदी की बढ़त हुई है। एक तरह से देखा जाए तो इनकी विकास दर व्यापार-उद्योग और सरकार से भी अधिक है। यानी हमारा यह परोपकार अब बहुत बड़ा व्यापार बन चुका है। सन् 2012 में केवल अमेरिका में ही लगभग 316 अरब डॉलर, यानी कोई 20,616 अरब रुपए परोपकार में दिए गए हैं। ये तो हुई दान की बात। रोजगार के क्षेत्र में भी यह अन्य किसी उद्योग से पीछे नहीं है। आज अमेरिका में परोपकार का यह नया धंधा कोई 94 लाख लोगों को नौकरी दे रहा है।

समाज में समानता लाने की बात अब अपना रूप बदल रही है। बस अपना धन परोपकार में लगाओ— यह है आधुनिक सनक। इस विषय पर अब अनगिनत बैठकें, गोष्ठियां होने लगी हैं और समता लाने के इस विचित्र तरीके को समझने-समझाने के लिए कई नई संस्थाएं भी बनने लगी हैं।

एक तरफ साधारण लोग और समाज एक ऐसी व्यवस्था में पिसते जा रहे हैं जो मुट्ठी भर लोगों को बेशुमार अमीरी दिला रही है तो दूसरी तरफ परोपकार में अपना धन समाज को वापस देना एक तरह की नई वीरता का पर्याय बनता जा रहा है। मैं इसे पाप-बोध की धुलाई कहता हूं। पाप के भद्रे, गहरे से गहरे दाग भी परोपकार के इस बढ़िया साबुन से धुल जाते हैं। अपने अपार खजाने से कुछ सिक्के निकाल कर यहां-वहां छिड़क देने से, फेंक देने से इन लोगों को इस अपराध-बोध से मुक्ति मिल जाती है कि उन्होंने इतने साधन इकट्ठे कर लिए हैं, जिनकी किसी एक व्यक्ति को कल्पना में भी जरूरत नहीं हो सकती!

इससे होता यही है कि विषमता बढ़ाने वाला ढांचा बराबर खड़ा रहता है बल्कि वह तो और मजबूत होता जाता है। दौलतमंद लोग रात को चैन की नींद सो पाते हैं, और कुछ और लोगों को इतनी रेजगारी चिल्लर मिल जाती है ताकि उनका आक्रोश न बढ़ पाए। जब भी कोई एक अमीर व्यक्ति परोपकार में कुछ दान देकर अपने बारे में कुछ अच्छा महसूस करने लगता है तो हम मान कर चल सकते हैं कि दुनिया के किसी और हिस्से में कोई और व्यक्ति संकट के किसी दलदल में और गहरा धंस जाता है। उससे यह मौका छीन लिया जाता है कि

**नई जगह की संस्कृति,  
भूगोल और सामाजिक कायदे  
समझे बिना इस काम में पिता  
से मिले इतने सारे रुपयों को  
बांट देने के बाद अब मुझे  
लगने लगा है कि इस तरह के  
परोपकार से समाज को लाभ तो  
छोड़िए, कुछ और बहुत बड़ा  
नुकसान हो रहा है।**

वह अपने स्वभाव के अनुसार खिल पाए और अपने पैरों पर खड़ा होकर संतोष से जीवन जी सके।

परोपकार के इस धंधे में व्यापार-उद्योग के लोगों का वास्ता बढ़ता ही जा रहा है। इससे परोपकार की दुनिया में अब व्यापारी मूल्यों का बोलबाला भी बढ़ रहा है। मैंने परोपकार करने वाले लोगों को ऐसा पूछते हुए सुना है कि अगर हम पीड़ा में फंसे लोगों की मदद के फलां काम में अपना इतना धन लगाएं तो हमारे इस निवेश पर मुनाफा कितना होगा! इनके लिए निवेश पर मुनाफा ही सफलता

**अमीर व्यक्ति परोपकार में कुछ दान देकर अपने बारे में कुछ अच्छा महसूस करने लगता है तो हम मान कर चल सकते हैं कि दुनिया के किसी और हिस्से में कोई और व्यक्ति संकट के किसी दलदल में और गहरा धंस जाता है। उससे यह मौका छिन लिया जाता है कि वह अपने स्वभाव के अनुसार खिल पाए और अपने पैरों पर खड़ा होकर संतोष से जीवन जी सके।**

का मानक है। अगर ऐसा नहीं होता तो फिर माइक्रोफाइनेंस, अल्पबचत योजना और आर्थिक साक्षरता जैसी योजनाओं को लाने का क्या मतलब है? मैं जानता हूं मेरा ऐसा कहना मेरे कुछ मित्रों को अप्रिय लगेगा। यों वे सभी उम्दा इंसान हैं। पर इन आर्थिक कार्यक्रमों से नए लोग हमारी उस व्यवस्था से जुड़ जाएंगे जो कर्ज और सूदखोरी पर ही चलती है। हो सकता है कई साधारण से लोग परोपकार की इन नई योजनाओं के कारण दो-चार सौ रुपए अधिक कमाने लग जाएं। पर यह पैसा खर्च कहां होगा? पक्का मानिए, यह गैरजरूरी नए उत्पादों और सेवाओं को खरीदने पर खर्च हो जाएगा। इससे विषमता उगाने वाले इस पेड़ की जड़ें और गहरी नहीं होंगी क्या?

मुझे गलत न समझें। मैं धनतंत्र के अंत का उद्घोष नहीं कर रहा हूं। मेरी दुहाई इंसानियत की है। मैं धनी लोगों को कहते सुनता हूं, काश उन गरीबों के पास भी वे सुविधाएं होतीं, जो हमारे पास हैं। जैसे— साफ पानी, स्वास्थ्य उपचार, मुक्त बाजार, बेहतर शिक्षा, रहने के लिए सुरक्षित वातावरण। जी हां, ये सुविधाएं महत्व तो रखती हैं पर दूसरों पर उपकार करने से ये समस्याएं सुलझाई नहीं जा सकतीं, केवल टाली जा सकती हैं। मुझे तो उपकार शब्द से ही नफरत हो चली है।

मुझे और मेरी पत्नी को पता है कि हमारे पास इन सबका कोई ठीक हल, समाधान नहीं है। पर जब दूसरे लोग कुछ कहते हैं तो हमें उनकी बात धीरज से सुनना आता है। जैसे-जैसे हमारी समझ का दायरा बढ़ता है, हमारी कोशिश रहेगी कि हम उन तरीकों को सहारा दें, जिनसे इस तंत्र के मूल में कुछ सुधार

आए। आज जरूरत है काम करने के एक नए तरीके की। पुराने तरीके को ठोक-बजा कर काम-चलाऊ बनाने की नहीं। एक अलग दर्शन की, ताजे विचार की। पर वह कहां से आएगा?

आज हमारी कल्पना भी भंवर में फंसी है। वैज्ञानिक एलबर्ट आइंस्टाइन ने कहा था कि कोई समस्या उसी मानसिकता से नहीं सुधारी जा सकती, जिस मानसिकता से उसका जन्म हुआ हो। परोपकार का धन नए तरह के जोखिम वाले काम और विचार में लगना चाहिए। ये काम तो वे हैं जिनमें व्यापार और उद्योग की दुनिया निवेश नहीं करती क्योंकि उनमें मुनाफा नहीं है।

ऐसे लोग भी हैं जो बने जितनी मेहनत कर रहे हैं, नए उदाहरण खड़े करने की। ऐसे सामाजिक संबंधों को खड़े करने की, जो सही में हर किसी को समृद्ध बनाएं, केवल लोगों को भोग की नई विषय-वस्तु खरीदने लायक बनाने के लिए नहीं। आज जरूरत है ऐसे विचारों पर धन लुटाने की, जो ऐसी व्यवस्था को तोड़ सकें जिसने सारी दुनिया को एक बड़ा बाजार बनाकर रख दिया है।

क्या हर गली-मोहल्ले में बेतार इंटरनेट ही खुशहाली का हमारा मानक रह गया है? यह नहीं हो सकता। जब तक समाज का एक हिस्सा परोपकार में दिए धन की एवज में अपनी पीठ खुद ठोंकता रहेगा, तब तक गरीबी फैलाने वाली यह भयानक विशाल मशीन चलती रहेगी।

यह एक पुरानी, थक चुकी कहानी है। हमें एक नई कहानी चाहिए।

**ऐसे लोग भी हैं जो बने जितनी मेहनत कर रहे हैं, नए उदाहरण खड़े करने की। ऐसे सामाजिक संबंधों को खड़े करने की, जो सही में हर किसी को समृद्ध बनाएं, केवल लोगों को भोग की नई विषय-वस्तु खरीदने लायक बनाने के लिए नहीं। आज जरूरत है ऐसे विचारों पर धन लुटाने की, जो ऐसी व्यवस्था को तोड़ सकें जिसने सारी दुनिया को एक बड़ा बाजार बनाकर रख दिया है।**

पीटर बफेट का यह लेख 26 जुलाई 2013 को 'द न्यूयार्क टाइम्स' नामक अखबार के संपादकीय पेज पर 'द चैरिटेबल-इंडस्ट्रियल कॉम्प्लेक्स' शीर्षक से छपा था। हिंदी प्रस्तुति सोपान जोशी की है।



# तीस साल बाद

नीति दीवान

**भोपाल** गैस त्रासदी को इस दिसंबर में 30 साल हो जाएंगे। इस बड़ी अवधि में मध्यप्रदेश और केन्द्र सरकार मिलकर भी यहां पड़े जहरीले कचरे का निपटान नहीं कर पाई हैं। हर साल बारिश के साथ इसका रिसाव भूमि में होता है और अब आशंका की जा रही है कि यह रिसाव लगभग तीन किलोमीटर के दायरे में फैल गया है।

तीन दिसंबर सन् 1984 को भोपाल के यूनियन कारबाइड कारखाने में हुई गैस त्रासदी के बाद के तीस वर्षों के दौरान यहां कई तरह के अध्ययन हुए हैं। अभी हाल ही में दिल्ली की संस्था सेंटर फार साईंस एंड एनवायर्नमेंट द्वारा एक अध्ययन किया गया है। अध्ययन के बाद इस संस्था ने देश भर के विशेषज्ञों के साथ बैठकर इस घातक प्रदूषण से मुक्ति पाने की एक योजना बनाई ताकि वर्तमान और आने वाली पीढ़ियों को इसका खामियाजा न भुगतना पड़े। उस भयानक हादसे के बाद किसी संस्था ने पहली बार इस तरह के काम की सामूहिक पहल की है। दूसरी ओर तीस वर्षों से सतत संघर्षरत संगठनों ने भी कई बार सरकार का ध्यान इस ओर दिलाया है कि इस घातक कचरे के कारण गैस पीड़ितों की जिदंगी से खिलवाड़ हो रहा है। इसके निपटान को गंभीरता से लिया जाए।

जिस गैस ने इतना ज्यादा संहार किया, उसे बनाने वाली चीजों का उतना ही जहरीला कचरा अभी भी, तीस साल बाद भी वहीं पड़ा है। इस अध्ययन को लेकर एकजुट हुए विशेषज्ञों ने साफ तौर पर कहा है कि यदि अगले पांच वर्षों में इस कचरे का निपटारा नहीं होता है तो पूरे इलाके में इसके घातक परिणाम सामने आएंगे। जमीन के भीतर इन जहरीले रसायनों के असर से खतरनाक संक्रमण बढ़ चला है।

इस संस्था के उप निदेशक श्री चन्द्रभूषण ने बताया कि संयंत्र के बंद होने के बाद सालों से पड़े इस कचरे से वहां की मिट्टी और भूजल संक्रमित होने लगा

है। आसपास रहने वाले लोगों की सेहत पर इसका प्रतिकूल असर पड़ रहा है। इस रिपोर्ट में पिछले 20 सालों में यूनियन कार्बाइड के जहरीले कचरे पर हुए अन्य पंद्रह अध्ययनों की रिपोर्टों को भी शामिल किया है, जिन्हें गैर सरकारी संस्थाओं के अलावा कुछ सरकारी विभागों ने भी तैयार किया है। मौजूद जहरीले कचरे के रिसाव के कारण भूजल प्रदूषण का दायरा लगातार बढ़ रहा है। आने वाले दिनों में यह रिसाव कोई 10 किलोमीटर तक भी फैल सकता है।

इस सबके बाद भी यदि सरकार कोई कदम न उठाए तो? सेंटर फार साईंस एंड एनवायर्नमेंट संस्था ने अपनी तरफ से एक योजना का प्रारूप तैयार किया है। श्री चंद्रभूषण का कहना है कि इस योजना में बताए गए उपायों से भूजल व मिट्टी के प्रदूषण को काफी हद तक दूर किया जा सकेगा।

इस संस्था ने इस मसले पर जुटी सभी संस्थाओं के साथ दिल्ली में भी एक बैठक का आयोजन किया था। इसमें इस बात को ठीक से समझने वाले अनेक वैज्ञानिकों, विशेषज्ञों के साथ यहां की मिट्टी और भूजल को कचरे से मुक्त करने और यहां के जहरीले कचरे को समाप्त करने और तब से बंद पड़े कारखाने के संयंत्रों और मशीनरी आदि पर विस्तार से चर्चा की गई थी। बैठक में विशेषज्ञों ने माना कि एक छोटी-सी जगह पर पड़ा 350 टन कचरा तो इस पूरे प्लांट में मौजूद कचरे का मामूली हिस्सा भर है। सबसे बड़ी चुनौती तो मिट्टी और भूजल को इस कचरे के घातक संक्रमण से मुक्त बनाना है।

नागरिकों द्वारा बनाई गई इस योजना में सभी तरह के उपायों को शामिल किया गया है। पहले चरण में कुछ तात्कालिक उपाय बताए गए हैं तो दूसरे चरण में मध्य और लंबी अवधि के उपाय बताए गए हैं। विभिन्न संगठनों द्वारा तैयार इन रिपोर्टों में कुछ असमानताएं जरूर हैं, किंतु सभी ने यहां की मिट्टी व पानी में भारी मात्रा में धातुओं को पाया है।

पूरे क्षेत्र और यहां बने जलाशय को अधिग्रहण करके उसके चारों ओर तार की बागड़ लगाई जाए ताकि आसपास के मुहल्लों के लोग खासकर बच्चे इस क्षेत्र

**जिस गैस ने इतना ज्यादा संहार किया, उसे बनाने वाली चीजों का उतना ही जहरीला कचरा अभी भी, तीस साल बाद भी वहीं पड़ा है। इस अध्ययन को लेकर एकजुट हुए विशेषज्ञों ने साफ तौर पर कहा है कि यदि अगले पांच वर्षों में इस कचरे का निपटारा नहीं होता है तो पूरे इलाके में इसके घातक परिणाम सामने आएंगे। जमीन के भीतर इन जहरीले रसायनों के असर से खतरनाक संक्रमण बढ़ चला है।**



में नहीं आ सकें। जलाशय क्षेत्र में अभी चल रहे सभी कामों पर रोक लगाई जाए। इसके साथ ही ऐसे उपाय हों जिससे कि बरसात के दौरान बरसने वाला पानी वहां जमीन के भीतर नहीं जा पाए।

**पूरे क्षेत्र और यहां बने जलाशय को अधिग्रहण करके उसके चारों ओर तार की बागड़ लगाई जाए ताकि आसपास के मुहल्लों के लोग खासकर बच्चे इस क्षेत्र में नहीं आ सकें। जलाशय क्षेत्र में अभी चल रहे सभी कामों पर रोक लगाई जाए। इसके साथ ही ऐसे उपाय हों जिससे कि बरसात के दौरान बरसने वाला पानी वहां जमीन के भीतर नहीं जा पाए।**

क्षेत्र में जमा सारे कचरे को बाहर निकाला जाए। इस कचरे में मौजूद रसायनों को उनकी प्रकृति के अनुसार उपचारित किया जाए, उन्हें बुझाया जाए और फिर नष्ट किया जाए।

कारखाने में एक छोटी-सी जगह पर पड़े 350 टन कचरे की पहचान करके लोगों को बताया जाए कि उसमें कौन-कौन से जहरीले रसायन मिले हुए हैं। पीथमपुर में कचरे को नष्ट करने के काम के नतीजों के आधार पर इस कचरे को भी नष्ट किया जाए। यह काम केन्द्रीय प्रदूषण नियंत्रण बोर्ड या फिर किसी अन्य ऐसी ही संबंधित एजेंसी के निर्देशन में होना चाहिए।

मध्य और लंबी अवधि के उपायों में पहला सुझाव है कि भूजल पर जहरीले रसायनों के असर को जानने के लिए वृहद अध्ययन

किया जाए और फिर नमूनों की जांच किसी प्रामाणिक प्रयोगशाला में की जाए। इसके आधार पर इसे संक्रमण मुक्त करने के उपाय तलाशे जाएं।

बैंट, बैंट स्क्रबर, स्टोरेज टैंक और कंट्रोल रूम समेत पूरे एम.आई.सी. नामक गैस के संयंत्र को संरक्षित करके इस इलाके को जहरीले रसायनों से मुक्त करने के प्रयास होना चाहिए।

जहरीले रसायनों से मुक्त करने के बाद इस पूरे परिसर को एक स्मारक की तरह सुरक्षित रखा जाए। इस जगह पर उद्योगों में हो सकने वाली ऐसी भयानक दुर्घटनाओं से बचने और उनके नियंत्रण निवारण का शास्त्र समझने, बनाने की एक संस्था भी खड़ी की जाए।

भूजल प्रभावित इलाकों में जिंक, मैगनीज, कॉपर, पारा, क्रोमियम, सीसा, निकिल जैसी हानिकारक धातुओं की मात्रा मानक से अधिक मिली है।

अभी केवल 350 टन कचरे के निपटान को लेकर प्रक्रिया चल रही है, किंतु उससे कहीं अधिक न दिखने वाला कचरा कारखाने के आसपास पानी और मिट्टी

में पाया गया है। उसका निपटान करना भी उतना ही जरूरी है। तीन किलोमीटर के क्षेत्र में किए गए अध्ययन से साफ हो गया है कि यहां घातक और जहरीले रसायन भीतर मिट्टी और पानी में मौजूद हैं। यहां तरह-तरह के विषैले पदार्थों से मिट्टी और पानी में संक्रमण बढ़ता जा रहा है। पीथमपुर स्थित राम की कंपनी के कर्मचारियों ने कारखानों से जहरीला कचरा उठाने की मात्र औपचारिकता की है। परिसर में ही कई स्थानों पर जहरीले कचरे को निपटान के नाम पर जमीन में ही दबा दिया जाता था। यह अभी भी वहीं दबा पड़ा है। कारखाने के कोकयार्ड में ही कोई 350 टन जहरीला कचरा रखा हुआ है। इसे कारखाने की दस-बारह जगहों से उठाया गया है। इस कचरे में 164 टन मिट्टी है।

श्री चंद्रभूषण का कहना है कि अभी तक जो अध्ययन हुए हैं वे तीन किलोमीटर के दायरे में ही सिमटे रहे हैं। एक ही दिशा में बहने से पिछले 29 सालों में भूजल कहां से कहां तक पहुंच गया होगा, यह किसी को नहीं मालूम। इसका दायरा दस किलोमीटर फैलने की आशंका है।

कारखाने से रिसी मिक गैस से प्रभावितों के स्वास्थ्य पर हुए असर के दूरगामी परिणाम पर भी लगातार शोध किया जा रहा है। यह इस साल के अंत में पूरा हो जाना चाहिए। इस दल में आठ वैज्ञानिक हैं। ये एक लाख बीस हजार लोगों पर अध्ययन कर रहे हैं।

गैस पीड़ित महिला उद्योग संगठन के श्री अब्दुल जब्बार का कहना है कि संक्रमण को फैलने से रोकने के लिए कारखाने को पूरी तरह से सील कर देना चाहिए तथा आसपास के लोगों का यहां आना-जाना रोक देना चाहिए। पानी व मिट्टी के संक्रमण को रोकने के लिए तत्काल उपाय किए जाना चाहिए। उनके अनुसार भूजल का प्रदूषण डेढ़ से दो किलोमीटर प्रति वर्ष की रफ्तार से फैल रहा है।

निराश्रित पेंशन भोगी महिला संगठन के श्री बालकृष्ण नामदेव ने कहा कि इसके साथ ही हमें 32 एकड़ जमीन के कचरे के निपटान की बात करनी होगी। इस पूरे काम को बहुत ही पारदर्शिता के साथ करना चाहिए। भोपाल ग्रुप ऑफ इंफार्मेशन एंड एक्शन नामक संस्था के श्री सतीनाथ षडंगी ने कहा कि यदि पांच साल के भीतर इस जहर को बुझाया नहीं जा सका तो इसके दूरगामी परिणाम अत्यंत घातक होंगे। अब तक कचरे के निपटान की सिर्फ बातें हुई हैं। काम तो करो अब।

नीति दीवान 'तराशी' नामक संस्था के साथ जुड़कर समाज के काम में लगी हैं।



# सीरिया का सबक

नयन चन्दा

सचमुच घर की लड़ाई। गृह युद्ध। भाई ने भाई को मारा। दूर बैठे देशों ने दोनों को अपने-अपने हथियार बेचे, एक दूसरे को मारने के लिए। नतीजा है कोई एक लाख लोग मारे जा चुके हैं और करीब 20 लाख लोग अपने घरों से उजड़ कर पड़ोसी देशों में शरणार्थी बन कर भटक रहे हैं। सीरिया की इस भारी विपत्ति के पीछे सिर्फ संप्रदायों के सद्भाव की कमी नहीं है। वहां तो पर्यावरण, प्रकृति के प्रति भी सद्भाव की कमी आई और सबका नतीजा निकला यह रक्तपात। हम कुछ सबक सीखेंगे?

**अपने** ही लोगों पर जहरीले रासायनिक हथियारों से हमला करने वाले सीरिया को सबक सिखाना चाहता है अमेरिका। उस पर हमला कर। पर अमेरिका के ही संगी साथी देश उसे इस हमले से रोकने में लगे हैं। लेकिन बाकी दुनिया अभी भी ठीक से समझ नहीं पा रही कि सीरिया के शासक बशर अल-असद ने आखिर अपने लोगों पर यह क्रूर अत्याचार भला क्यों किया है। तुर्की के पुराने उस्मानी साम्राज्य के खंडहरों में से कांट-छांट कर बनाया गया था यह सीरिया देश। इसमें रहने वाले अलाविया और सुन्नियों, दुरुजी और ईसाइयों के बीच पिछले कुछ समय से चला आ रहा वैमनस्य निश्चित ही इस युद्ध का एक कारण गिनाया जा सकता है।

यह भी कहा जा सकता है कि अभी कुछ ही समय पहले अरब में बदलाव की जो हवा बही थी और जो छूत के रोग की तरह आसपास के कई

देशों में फैल चली थी, उसी हवा ने अब सीरिया को भी अपनी चपेट में ले लिया है।

यह सब तो ठीक ही है। पर थोड़ा गहरे उतरें। तब हमें पता चलता है कि कोई पांच बरस पहले सीरिया के खेतों में पर्यावरण का भारी संकट उभरा था और उसी संकट ने आज चल रहे संघर्ष को बढ़ावा दिया है। इस दुखद किस्से को प्रायः अनदेखा ही किया है। इसी दुखद किस्से में हमारे देश के लिए भी एक सबक, पर्यावरण का एक पाठ छिपा हुआ है।

पिछले दो सालों से बिना थके, बिना रुके चल रहे आपसी संघर्ष में, गृहयुद्ध में सीरिया के कोई एक लाख नागरिक अपनी जान गवां चुके हैं। कोई 20 लाख पुरुष, स्त्री, बच्चे अपने घरों से उजड़ कर आसपास के देशों में शरण लेने के लिए मजबूर किए गए हैं। इस गहरी त्रासदी की काली छाया ने वहां के विभिन्न संप्रदायों और धर्मों में चले आ रहे सद्भाव को, मेल-मिलाप को, शांतिपूर्ण सहअस्तित्व को भी छिन्न-भिन्न कर दिया है। सीरिया के बाथ नामक सत्तारूढ़ दल के कठोर शासन ने यों धर्मनिरपेक्ष और उदारवादी ढांचा खड़ा किया था और इस वजह से वहां एक नया विकास हो सका था और एक हद तक नई समृद्धि के दरवाजे भी खुल गए थे। लेकिन पर्यावरण संकट की एक लंबी अवधि ने कट्टरवाद के राक्षस को जिंदा कर दिया था।

दुनिया भर में सुरक्षा के विषय को बड़ी बारीकी से देखने-समझने वाले विद्वानों, विशेषज्ञों की जमात में श्री शहरजाद मोहतदी का बहुत नाम है। उन्होंने पिछले दिनों आणविक वैज्ञानिकों की एक पत्रिका 'बुलेटिन ऑफ एटॉमिक साइंटिस्ट्स' में लिखे अपने एक लेख में दुनिया के मौसम में हो रहे बदलाव और सीरिया की वर्तमान राजनैतिक उथल-पुथल को बड़ी ही गहराई से जोड़कर देखा है। यों रेगिस्तानी हिस्से में बसे इस छोटे-से देश में हर कभी कम वर्षा के कारण अकाल तो समय-समय पर आते ही रहे हैं, लेकिन सन्

**यह भी कहा जा सकता है कि अभी कुछ ही समय पहले अरब में बदलाव की जो हवा बही थी और जो छूत के रोग की तरह आसपास के कई देशों में फैल चली थी, उसी हवा ने अब सीरिया को भी अपनी चपेट में ले लिया है।**

2006 से 2010 के बीच में आई वर्षा में कमी से जो भयानक अकाल पड़ा, उसने इस देश के उत्तरी पूर्वी हिस्से में बने अनाज के कटोरे को एकदम खाली कर दिया था। फिर यहां रेगिस्तान ने भी अपना पैर पसार दिया था।

तब वहां की हालत इतनी खराब हो गई थी कि खेती-बाड़ी से उजड़ चुके कोई 15 लाख किसान अब वहां रह ही नहीं सकते थे। उन सबने

**कोई पांच बरस पहले  
सीरिया के खेतों में पर्यावरण  
का संकट उभरा था और  
उसी संकट ने आज चल रहे  
संघर्ष को बढ़ावा दिया है।  
इस दुखद किस्से को प्रायः  
अनदेखा ही किया गया है।  
इसी दुखद किस्से में हमारे  
देश के लिए भी एक सबक,  
पर्यावरण का एक पाठ  
छिपा हुआ है।**

पलायन शुरू किया और दमिश्क और उस जैसे अन्य शहरों की सीमा पर जहां भी जगह मिली फटे-पुराने कपड़ों, पन्नियों, टीन-टप्पर से काम चलाऊ तंबू आदि बनाकर रहना शुरू कर दिया था। अनाज उत्पादन में भारी गिरावट आई। जो देश कल तक गेहूं उगा कर बाहर के देशों को बेचता था, अब उसको खाने के लाले पड़ने लग गए। सीरिया ने गेहूं बाहर से खरीदना शुरू किया। पर इस कदम से अनाज के दाम बढ़ चले, सचमुच आसमान छूने लगे। ज्यादातर किसान सुन्नी थे। उन्हीं को इसकी सबसे ज्यादा मार झेलनी पड़ी। पर उनकी

इस दुर्दशा को सीरिया के सत्तारूढ़ शिया संप्रदाय का नेतृत्व समझ नहीं पाया। उन किसानों की बराबर उपेक्षा होती रही।

फिर सन् 2011 के मार्च महीने में इस बेहद तनाव भरी हालत में जैसे एक बड़ा धमाका हो गया। अपने खेतों, घरों, गांवों से उखड़ कर दारा शहर में आ बसे लोगों के कुछ बच्चों ने वहां के एक स्कूल की दीवार पर सरकार विरोधी कुछ नारे लिख दिए। रक्षाबल के सैनिकों ने इन बच्चों को गिरफ्तार कर लिया और बताया जाता है कि उन्हें तरह-तरह से यातनाएं भी दी गईं।

दारा में इसके खिलाफ जो आग भड़की, वह देखते ही देखते पूरे देश में फैल गई। देश में सरकार के खिलाफ पहले से ही एक सशस्त्र विरोधी गुट काम कर रहा था। अपने को असहाय पाकर इन सुन्नी किसानों में से कुछ को लगा कि इन विरोधियों के साथ ही जा मिलना चाहिए और सरकार को सबक सिखाना चाहिए।

जिन शहरों के आसपास ये किसान भारी संख्या में डेरा डाले बैठे थे, फिर उन्हीं इलाकों में भयानक हिंसक विरोध फैल गया और उन्हीं जगहों पर सरकार ने पहले शस्त्रों से हमला कर उसे दबाने की असफल कोशिश की, फिर वायुसेना के जहाजों से अपने ही नागरिकों पर बमबारी भी की और अंत में तो इन्हीं ठिकानों पर सरकार ने पिछले दिनों जहरीली रासायनिक गैस से भी आक्रमण किया।

यह तो पक्की तौर पर कहा जा सकता है कि सीरिया सरकार को वहां के लंबे अकाल के लिए पूरी तरह से तो जिम्मेदार ठहराया नहीं जा सकता। वैज्ञानिकों का कहना है कि यह तो हमारी अपनी ही करतूतों के कारण आ रहे जलवायु परिवर्तन के कारण सामने आई भयानक घटना है। लेकिन ऐसी हालत में भी वहां की सरकार अपनी गलत कृषि नीति से इस अकाल को बढ़ावा तो दे ही रही थी।

बरसात कम होती थी। पिछले दौर में और भी कम होती गई। पर सरकारी कृषि नीति ने किसानों को कपास बोने की तरफ मोड़ा। कपास का निर्यात सरकार की कमाई का एक बड़ा साधन बन गया था। पर कपास उगाने के लिए किसानों को अपने

क्षेत्र का भूजल भंडार खाली करते जाना पड़ा। अमेरिका के अंतरिक्ष कार्यक्रम संभालने वाले 'नासा' के एक भूजल विशेषज्ञ श्री जॉय फेमिंगलिटी का कहना है कि उन्होंने पिछले सात सालों में उपग्रह की तस्वीरों से सीरिया के इस क्षेत्र का बड़ी बारीकी से अध्ययन कर यह पाया है कि यहां की दो नदियों—टाइग्रिस और यूफ्रेटिस—के क्षेत्र में भूजल भंडार बहुत तेजी से नीचे उतर गया है। दुनिया में तेजी से घटते भूजल भंडार में इस क्षेत्र का स्थान दूसरा है। और पहला देश भला कौन-सा है? हमारा प्यारा भारत!

गेहूं और कपास के निर्यात में ठीक सीरिया की ही तरह हमारे देश ने भी धान और कपास के निर्यात से दुनिया के देशों में अपना स्थान ऊपर कर

**पिछले दो सालों से बिना थके, बिना रुके चल रहे आपसी संघर्ष में, गृहयुद्ध में सीरिया के कोई एक लाख नागरिक अपनी जान गवां चुके हैं। कोई 20 लाख पुरुष, स्त्री, बच्चे अपने घरों से उजड़ कर आसपास के देशों में शरण लेने के लिए मजबूर किए गए हैं।**

लिया है— और इन दोनों फसलों, जिन्सों को पैदा करने में हमने अपना सबसे कीमती भूजल भंडार खाली करने में कोई कसर नहीं छोड़ी है। आज देश के अनेक जिलों में भूजल इतना ज्यादा नीचे गिर चुका है कि अब उसे दुबारा

**रेगिस्तानी हिस्से में  
बसे इस छोटे-से देश में  
हर कभी कम वर्षा के कारण  
अकाल तो समय-समय पर  
आते ही रहे हैं। लेकिन सन्  
2006 से 2010 के बीच में  
आई वर्षा में कमी से जो  
भयानक अकाल पड़ा, उसने  
इस देश के उत्तरी पूर्वी हिस्से  
में बने अनाज के कटोरे  
को एकदम खाली कर  
दिया था।**

भरा जाना एक मुश्किल काम बन गया है। वैज्ञानिक हमें बराबर चेतावनी दे रहे हैं कि आने वाले बीस-तीस बरस में हमारे देश के भूजल भंडार का कोई 60 प्रतिशत भाग इस बुरी हालत में नीचे चला जाएगा कि फिर हमारे पास ऊपर से आने वाली बरसात, मानसून की वर्षा के अलावा कुछ बचेगा नहीं।

यहां सीरिया और भारत की तुलना करने का यह अर्थ नहीं है कि यहां भी वहीं जैसे दुखद परिणाम आने वाले हैं। पिछले 66 बरस के हमारे लोकतंत्र ने अपनी एकता पर आने वाले कई बड़े-बड़े संकट झेले हैं।

आज तो हमारा समाज ऐसी किसी प्राकृतिक विपदा को सहने के लिए और भी ज्यादा मजबूत हो चला है। लेकिन इससे बेफ्रिक तो नहीं ही हुआ जा सकता। धरती गरम हो रही है। मौसम, बरसात का स्वभाव बदल रहा है। इसलिए बिना सोचे समझे भूजल भंडारों के साथ ऐसा जुआ खेलना हमें भारी पड़ सकता है।

अनुभवी पत्रकार श्री नयन चंदा दुनिया की कई जानी-मानी पत्रिकाओं का संपादन कर चुके हैं। एशिया में राजनीति पर गहन लेखन उनकी विशेषता है। आजकल वे अमेरिका के येल सेंटर फॉर स्टडी ऑफ ग्लोबलाइजेशन के प्रकाशन विभाग के निदेशक हैं।

अगस्त 31, 2013 को टाइम्स ऑफ इंडिया में छपे लेख का पल्लव गोयल द्वारा हिन्दी रूपांतरण।



# निरंजन सत्याग्रह

## कृष्णनाथ

**सत्य** और अहिंसा उतने ही पुराने हैं, जितने ये अरावली के पर्वत, जितना गंगा यमुना नदी का जल, ये सिन्धु और यह आकाश। किन्तु ये मूल रूप से या प्रधान रूप से महाव्रत के रूप में पालन किये जाते थे।

पतंजलि के योग सूत्र में जिन पांच महाव्रतों को बताया गया है, वे जाति-देश-काल-समय से अनविच्छिन्न हैं। उनमें सत्य, अहिंसा, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह शामिल हैं। किन्तु सत्य तो पतंजलि से भी पुराना है। सत्य यानि सत्— जो है। जो होने का भाव है, वह सत्य है। जो है सो है और जो होने का भाव है वह सत्य है। जो है वह नहीं भी रहता है, लेकिन सत्य, उसके होने का भाव बना रहता है। तो सत्य तो है किन्तु उसके साथ दक्षिण अफ्रिका में जब गांधीजी का रंगभेद के खिलाफ आंदोलन चल रहा था तो आंदोलन तो था, लेकिन उसका कोई नाम नहीं था यह तो विदित है। तो उस आंदोलन को एक नाम देने के लिए उन्होंने एक इनाम की घोषणा की। और उसमें सद् का आग्रह— सदाग्रह नाम सुझाया गया। फिर इसमें थोड़ा संशोधन कर सत्य लेकर और आग्रह को शामिल किया गया। इस प्रकार से उसकी उत्पत्ति या व्युत्पत्ति हुई। तो ये सत्याग्रह शब्द जन्मा और उसके भी पहले वह वस्तु, वह संतान पहले से उपस्थित थी। कबीर की उलटबांसी में जब पिता का जन्म हुआ तो पुत्र पिछवाड़े खड़े थे, पुत्र पहले ही प्रगट हो चुके थे।

सन् 1906 से आज तक यमुना में कितना जल बह गया। इस बीच सत्याग्रह के अनेक प्रयोग गांधी ने स्वयं देश में किए। और फिर अब तो उसका एक विश्व रूप प्रगट हो चुका है। वह जगह-जगह काम करता दिखाई पड़ता है। उसका संक्षेप में भी लेखा-जोखा लेना मेरे लिए कठिन ही नहीं, असंभव है।

वैसे अपने इस प्राचीन सभ्यता के देश में जहां कभी ब्रह्म की जिज्ञासा हुआ करती थी, आज जिज्ञासा का बड़ा अभाव हो गया है। हम जैसे चीजों



को मानकर चलते हैं और ये समझते हैं कि सत्याग्रह का तो यहीं जन्म हुआ, यहीं प्रयोग हुआ और यहीं से वह दुनिया में फैला तो इसमें और क्या जानना है, वह सब तो हम जानते ही हैं। वह सब तो हमारा जाना-सुना है। जो है नहीं, अगर है भी तो उस पर समय की गर्द पड़ गई है और अगर उसे देखना हो तो उसे साफ करने की, मांजते रहने की जरूरत है। मुझे काशी में सुने कबीर के एक पद का स्मरण हो आता है। शब्द कुछ इधर-उधर होंगे, लेकिन आशय है कि दर्शन चाहिए तो दर्पण मांजा करिए— जो दर्पण में लग गई काई तो दरस कहां से होई। अगर दरस करना है, देखना है तो दर्पण चाहिए। और दर्पण को मांजते रहना चाहिए, अगर दर्पण में ही काई लग गई, मैल जम गया तो फिर दरस कहां से होगा।

**अपने इस प्राचीन सभ्यता के देश में जहां कभी ब्रह्म की जिज्ञासा हुआ करती थी, आज जिज्ञासा का बड़ा अभाव हो गया है। हम जैसे चीजों को मानकर चलते हैं और ये समझते हैं कि सत्याग्रह का तो यहीं जन्म हुआ, यहीं प्रयोग हुआ और यहीं से वह दुनिया में फैला तो इसमें और क्या जानना है, वह सब तो हम जानते ही हैं।**

गांधी के बाद अहिंसक प्रतिकार के निरूपण की दो पद्धतियां सूझती हैं। एक तो वर्णन-विश्लेषण और दूसरा सिद्धांत विश्लेषण। वर्णन-विश्लेषण के लिए जितनी सामग्री चाहिए और जितनी फुर्सत चाहिए वह आज कहां। कम से कम मेरे पास नहीं है। यहां सब कुछ है किन्तु समय की दरिद्रता के कारण सब अकारथ हो जाता है। किसको आज फुर्सत है कि वह यह सारा बखान करे और सुने। इसलिए वर्णन-विश्लेषण के बजाए जो सिद्धांत विश्लेषण है, सत्याग्रह के सिद्धांत और उस पर उठाई गई आपत्तियां— उनको ही संक्षेप में शायद कहा-सुना जा सकता है।

फिर भी अहिंसक प्रतिकार के एक प्रयोग का जिक्र करने की इजाजत चाहूंगा। वह आज से कोई पचास-पचपन साल पहले का है। वह है घेरा डालो आंदोलन। सन् 1958 में बिहार के एक जिले पलामू में हम लोग आदिवासियों के बीच उनके संघर्षों में और उसके सपनों में उनके साथ एकाकार हो रहे थे। अब तो वह झारखंड प्रदेश का अंग है। उन दिनों पलामू बिहार का एक दुर्गम जिला था। वहां के भी एक अंतर्प्रदेश रंका में बिहार और मध्यप्रदेश की सीमा पर आदिवासियों की एक सभा बुलाई गई। वह सभा किसी सभा के लिए नहीं थी। उन दिनों पूरा छोटा नागपुर का आदिवासी इलाका भयंकर अकाल की चपेट में था। अन्न का तो सवाल ही नहीं, पानी का भी अकाल था। वह दिन मुझे नहीं भूलता। उस दिन

हम लोग 18 किलोमीटर से भी ऊपर चले। जंगल में आग लगी हुई थी। पेड़-पौधे, जानवर जल रहे थे। सब रूप जल रहा था, वेदना जल रही थी, संज्ञा जल रही थी, संस्कृति जल रही थी, संस्कार जल रहे थे। और उसे बुझाने के लिए एक बूंद पानी भी कहीं नहीं था।

मध्यप्रदेश के भीलवाड़े की भाषा में उसे दुष्काल बोला जाता था। दुष्काल में हम लोगों ने कुछ मांगें तैयार कीं। आदिवासियों की सभा बुलाई कि इन मांगों के लिए हम लोग एक बड़ा आंदोलन करेंगे और इनको पूरा किए बिना यहां जीवन संभव नहीं। हम लोगों ने जब सभा खत्म की, जब सभा विसर्जित हुई तो आदिवासियों ने घेर लिया कि वह आंदोलन कब करेंगे? यह सब तो यहां हम झेल रहे हैं और हम वापस कहां जाएं, क्या खाएं-क्या पीएं। तो जो कुछ करना है अभी करिए और आज करिए।

उस समय हम लोगों ने उन्हें बार-बार समझाया कि बड़े आंदोलन के लिए बड़ी तैयारी की जरूरत होती है और बड़े साधन जुटाने होते हैं। और तैयारी के साथ इस दुष्काल से लड़ेंगे। तो उन्होंने कहा कि वह तैयारी कब करेंगे, उसका समय कहां है? जो कुछ करना है आज करिए। अब उनके इस शिद्दत से किए गए और भोगे गए सत्य के आगे हमारी सारी दलीलें व्यर्थ थीं। इसलिए जल्दी-जल्दी वहीं मित्रों ने आपस में सलाह मशविरा किया। आज वे मित्र नहीं हैं तो उनका स्मरण आता है। केशव शास्त्री, वे काशी विद्यापीठ के ही शास्त्री थे और अपने अध्ययन काल से मुझसे परिचित थे और पलामू के और बाद में बिहार के एक नेता पूरनचंद्र और हम लोग उसके संयोजकों में थे। और भी सहयोगी थे, बिलाल सिद्दिकी थे, पूरन चंद्र पाठक थे। मामा बालेश्वर दयाल भी उस सभा के लिए आए हुए थे। तो जल्दी-जल्दी में यह तय हुआ कि अब तो इसे टाला नहीं जा सकता। भूख की आग में सब जल रहे हैं। अन्न और जल और सारा कुछ का जिम्मा ब्लॉक डेवलपमेंट ऑफिसर का था। बीडीओ के जिम्मे। विकास प्रखंड शुरू हो चुके थे और एक विकास प्रखंड वहां भी चालू था। तो ये तय हुआ कि हम लोग बीडीओ के यहां चलें। उनके सामने अपनी विपदा कहें और इसका कुछ हल ढूंढने की कोशिश करें।

**दर्शन चाहिए तो दर्पण  
मांजा करिए— जो दर्पण  
में लग गईं काई तो दरस कहां  
से होई। अगर दरस करना है,  
देखना है तो दर्पण चाहिए।  
और दर्पण को मांजते रहना  
चाहिए, अगर दर्पण में ही काई  
लग गई, मैल जम गया तो  
फिर दरस कहां से होगा।**

जब हम वहां पहुंचे तो पता चला कि बीडीओ साहब तो वहां नहीं हैं। तो भीड़ ने कहा कि बीडीओ नहीं हैं तो उनका परिवार तो है। हम उनके परिवार को घेरेंगे। मुझे तत्काल यह सूझा कि भाई इसमें बीडीओ के परिवार का क्या लेना-देना। यह तो उनके साथ ज्यादाती होगी। इसलिए आपस में मशविरा करके हम लोगों ने जल्दी से तय किया कि इस भीड़ को और वह बड़ी भीड़ थी, उत्पात करने के लिए छोड़ना ठीक नहीं है। उन्हें लेकर हम लोग रंका थाने की ओर बढ़े। वहां खलबली मच गई। इतनी बड़ी भीड़ और वह भी अधनंगी भीड़। जो थोड़े से पहरा देते सिपाही थे और दारोगा थे वह आनन-फानन

**हम लोगों में जो अहिंसा का संस्कार रहा हो या जो स्थिति की जरूरत हो उसमें यह सहसा लगा हो कि इन हथियारों का लूटा जाना तो ठीक नहीं है। उसका गलत हाथों में पड़ने का बड़ा अंदेशा है। यह हमारा तरीका तो नहीं है। हमारा तरीका तो आखिर गांधी का तरीका है और उसमें हथियार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। तो हम लोगों ने दबंग आवाज में और डपटकर उन लोगों को यह करने से बरजा।**

में आए। वहां कुछ राइफलें और अन्य शस्त्र इस्तेमाल के लिए और इस्तेमाल से ज्यादा शक्ति प्रदर्शन के लिए रखे गए थे। राइफलें वगैरह बरामदे में ही पड़ी हुई थीं। पता नहीं कहां से भीड़ में सहसा उन राइफलों को लूटने की बात चलने लगी। ये हिंसा कहां बसती है, कहां उपजती है, कहां संस्कारों में दबी-छुपी है, रची-बसी है, पता नहीं। तो भीड़ उनकी ओर झपटने को थी और इस पर तो पूरा थाना आक्रामक सुरक्षा की मुद्रा में आ गया। और थानेदार ने कहा कि यह तो नहीं हो सकता। ये तो सरकारी हथियार हैं, आप लोग यह तो न होने दीजिए।

हम लोगों में जो अहिंसा का संस्कार रहा हो या जो स्थिति की जरूरत थी, उसमें यह सहसा लगा हो कि इन हथियारों का लूटा जाना तो ठीक नहीं है। उसका गलत हाथों में पड़ने का बड़ा अंदेशा है।

यह हमारा तरीका तो नहीं है। हमारा तरीका तो आखिर गांधी का तरीका है और उसमें हथियार के लिए कोई गुंजाइश नहीं है। तो हम लोगों ने दबंग आवाज में और डपटकर उन लोगों को यह करने से बरजा। भीड़ के साथ हम लोगों का एक रागात्मक संबंध बन गया था। वरना सिर्फ हम लोगों के बोलने का असर तो नहीं होता। वे शब्द तो हवा में बिखर गए होंगे। लेकिन उन लोगों ने हम लोगों की बात मानकर हथियारों को अपनी जगह पर रख दिया और उस बरामदे से नीचे उतर गए।

अब वह थाना और उसकी सीमा और हम। संयोग से वह दारोगा भी उन्हीं आदिवासियों में से एक था। जो कुछ आरक्षण की व्यवस्था थी, उनमें से गुजर कर और अपनी थोड़ी बहुत पढ़ाई और संपर्कों के आधार पर वह वहां तक पहुंचकर दारोगा बना था। उसको भी अपने भाई बिरादरों का दर्द मालूम था। हालांकि वह उनका अंग नहीं था और उसका काम भी दूसरी तरह का था, यानि उनको दबा कर रखने का था। फिर भी कहीं न कहीं भीतर से, उसके अंतर्मन में अंतरसलिला की तरह से यह भाव तो रहा ही होगा। वह आकर हम लोगों के बीच में बैठा और उसने कहा कि यह मैं जानता हूँ कि भारी मुसीबत है। लेकिन बताइए कि मैं क्या करूँ? मेरे पास तो इनको देने के लिए कुछ भी नहीं है और फिर यह तो थाना है।

हम लोगों ने उससे कहा कि आप तो बिहार सरकार के प्रतिनिधि हैं। आप अपनी सरकार को खबर दीजिए कि ऐसी स्थिति उत्पन्न हो गई है। लोग भूख से मर रहे हैं। सूचनाएं हम लोगों के पास आ रही थीं। यह भूख औरों को भी निगलने वाली है। और इसलिए कुछ राहत तुरंत जरूरी है।

उन दिनों आज की तरह मोबाइल का चलन नहीं था और वहां पर बेतार के तार की भी कोई सुविधा नहीं थी। टेलीफोन भी उस इलाके में कहां। तो उसके पास संदेश पठाने का कोई जरिया नहीं था। एक दुर्गम जिले का भी एक दुर्गम खंड था वह। तो उसने जो आखिरी बस जाती है गढ़वा, तहसील के मुख्यालय, रंका थाने की ओर से अर्धसरकारी या सरकारी पत्र गढ़वा में तहसीलदार को वहां की स्थिति बताने के लिए भेजा। उसने पत्र के जरिए जो कुछ हो सकता है, उसकी चेष्टा की और क्या कुछ हो सकता है इसके लिए हम लोगों ने जल्दी-जल्दी एक सूची बनाई। अपने वचन के मुताबिक वह संदेश रंका से गढ़वा पठाया। शायद बस के चालक वगैरह और यात्रियों ने यह खबर वहां पहुंचाई। जहां संचार के साधन नहीं होते, वहां कैसे बिना साधन के जैसे जंगल की आग की तरह खबर फैल जाती है— यह आज तक भी मेरी समझ नहीं आया है। संचार संस्थानों के विद्यार्थी इसकी खोज कर सकते हैं। उस भूख की लपट और प्रदर्शन की उग्रता गढ़वा तक पहुंची। रात भर हम लोग वहीं घेरा डाले रहे। सुबह गढ़वा से अफसरों का एक दल जीपों में भरकर रंका पहुंच गया। फिर उनसे बातचीत शुरू हुई। और कुछ लोग जो बिल्कुल ही असहाय थे और काम नहीं कर सकते थे उनके लिए एक रिलीफ कार्ड, लाल कार्ड जारी किया गया। जो काम कर सकते थे उनको काम में लगाने के लिए एक योजना जो चल रही थी, उसमें शरीक करने की बात हुई। पानी के टैंकर जैसी चीज तो तुरंत मुहैया कराने की बात हुई।

यह अहिंसात्मक प्रतिकार सत्याग्रह का एक प्रकार था। यह बिलकुल नया प्रकार नहीं था। इसे धरना कहते हैं। गांधीजी के दिनों में भी एक नमक गोदाम पर, शायद धरसाना में लोग धरने पर बैठ गए थे। तो वह धरना का ही एक रूप था। मुझे यह जरूर थोड़ा कष्ट है कि घेराव पूरी तरह से अपने शुद्ध रूप में अहिंसात्मक नहीं रहा। शुद्ध रूप में कौन सी वस्तु रहती है? आकाश से निर्मल

**गांधीजी ने इन सब प्रश्नों का पहले ही उत्तर दिया है। तो भी ऐसे प्रश्न बार-बार उठते हैं और उनके उत्तर भी बार-बार दिए जाते हैं। ये सिलसिला न जाने कब से चला आ रहा है। ये प्रश्न भी हैं और ये उत्तर भी हैं। गांधीजी ने लिखा है— काश मैं सबको इस बात के लिए मना सकता कि सिविलनाफरमानी हर नागरिक का जन्मजात अधिकार है। वह मनुष्यता छोड़े बिना इसको छोड़ नहीं सकता। सिविलनाफरमानी से कभी अराजकता नहीं पैदा होती।**

जल बरसता है और वह निर्मल जल आकाश की ही धूल और गर्द, गुबार लेकर वहीं से मैला होने लगता है और फिर पृथ्वी पर पड़कर तो वह कीचड़-कादो वगैरह में बदल जाता है। उसमें से भी वह बहता रहता है। उसमें वह निर्मलता तो नहीं रह पाती, लेकिन फिर भी पृथ्वी का और वनस्पति का सिंचन करता है, प्राणों का सिंचन करता है। और उससे फिर यह जल नया होता है। पुनर्नवा होता है। तो इस तरह अगर बिलकुल अपने शुद्ध रूप में ही उसको आकाश में ही रहने के लिए अभिशप्त कर दिया जाए तो सारी पृथ्वी तप्त अग्निपिंड की तरह फिर से हो जाएगी। यह उदाहरण एक प्रकार का वर्णन विश्लेषण हुआ।

अब सिद्धांत विश्लेषण करते हैं। यह कोई भारी भरकम सिद्धांत नहीं है। जैसे अर्थशास्त्र, राजनीतिशास्त्र में भारी भरकम थ्योरी होती है, वैसा कोई बखान में नहीं करने जा रहा हूं। वह सत्याग्रह के ही क्रम

में उपजी हुई कुछ गुत्थियां हैं। कुछ उसके खिलाफ आपत्तियां हैं। तो उन्हें पूर्व पक्ष में रखकर फिर उनका खंडन करके और सत्याग्रह के पक्ष को पुष्ट करने की पद्धति से इनमें से कुछ का मैं जिक्र करना चाहूंगा।

उनमें से एक जो शुरू-शुरू में हम लोगों को सुनने में आती थी, वह यह थी कि जब ब्रिटिश राज था तो उसके खिलाफ आंदोलन की जरूरत थी। गांधीजी ने सत्याग्रह, सिविलनाफरमानी और असहयोग वगैरह चलाया और वह सब हुआ। अब तो स्वराज आ गया। अब जब स्वराज आ गया और अंग्रेज यहां से चले गए तो अब सत्याग्रह की क्या आवश्यकता? अब आप किसके खिलाफ सत्याग्रह करते हैं?

वैसे गांधीजी ने इन सब प्रश्नों का पहले ही उत्तर दिया है। तो भी ऐसे प्रश्न बार-बार उठते हैं और उनके उत्तर भी बार-बार दिए जाते हैं। ये सिलसिला न जाने कब से चला आ रहा है। ये प्रश्न भी हैं और ये उत्तर भी हैं। गांधीजी ने लिखा है— काश मैं सबको इस बात के लिए मना सकता कि सिविलनाफरमानी हर नागरिक का जन्मजात अधिकार है। वह मनुष्यता छोड़े बिना इसको छोड़ नहीं सकता। सिविलनाफरमानी से कभी अराजकता नहीं पैदा होती। मुजरिम नाफरमानी को राजशक्ति से कुचलता है। जब ऐसा नहीं कर पाता तो राज्य नष्ट हो जाता है। लेकिन सिविलनाफरमानी को कुचलना तो आत्मा को कैद करना है। सिविलनाफरमानी से तो केवल ताकत और पवित्रता उपजती है। उन्होंने यह भी लिखा है कि ये सिर्फ कोई ब्रिटिश राज्य के खिलाफ इस्तेमाल किया हुआ औजार नहीं है। जब स्वराज्य आ जाएगा तो उन्होंने यह जाहिर किया है कि उस स्वराज्य में भी वे इससे प्रचंड सत्याग्रह की जरूरत महसूस करते हैं। वे कहते हैं कि मैं उसको स्वराज्य की प्राप्ति के बाद भी चलाना चाहूंगा।

सविनय अवज्ञा आत्मसम्मानपूर्वक जीने की एक शर्त है, एक अनिवार्य शर्त है। अगर किसी देश काल में, किसी शासन पद्धति में, किसी व्यवस्था में, उसमें जो निहित अन्याय है, उसको देखकर, उसका हम प्रतिकार नहीं करते, असत्य का अगर प्रतिकार नहीं करते तो वह जहरीला हो जाता है। वह अपनी आत्मा में और समाज की आत्मा में और सरकार में, अगर सरकार की कोई आत्मा हो तो, उसमें एक बुराई पैदा करता है और उस बुराई का कोई अंत नहीं है। अन्याय का तत्क्षण प्रतिकार तो एक आम सिद्धांत है और वह इसका आधार है। वह क्षण घड़ी वाला क्षण नहीं है। वह क्षण कभी-कभी विशेषकर के सामूहिक प्रतिकार के मामलों में थोड़ा स्थगित किया जा सकता है। ऐसा न समझें कि वह अन्याय हुआ और उसका उसी क्षण प्रतिकार नहीं हुआ तो उससे अपने को

**सविनय अवज्ञा आत्मसम्मान पूर्वक जीने की एक शर्त है, एक अनिवार्य शर्त है। अगर किसी देश काल में, किसी शासन पद्धति में, किसी व्यवस्था में, उसमें जो निहित अन्याय है, उसको देखकर, उसका हम प्रतिकार नहीं करते, असत्य का अगर प्रतिकार नहीं करते तो वह जहरीला हो जाता है। वह अपनी आत्मा में और समाज की आत्मा में और सरकार में, अगर सरकार की कोई आत्मा हो तो, उसमें एक बुराई पैदा करता है और उस बुराई का कोई अंत नहीं है।**

ही ऐसी ग्लानि हुई और ऐसी ठेस लगी, ऐसा नासूर मान लिया कि वह फिर सत्याग्रही को ही नष्ट कर दे। क्षण का अर्थ ऐसा नहीं है।

फिर यह प्रश्न भी उठाया जाता है कि इस सत्याग्रह के अस्त्र का दुरुपयोग हो सकता है। ये आपत्ति बिलकुल सही है। सत्याग्रह के नाम का और उसके अस्त्र का बहुत सारा दुरुपयोग हम अपनी आंखों के सामने देख रहे हैं। हर कोई अपनी जायज-नाजायज मांग के लिए आंदोलन करता है और उसे सत्याग्रह का नाम दे देता है। और समझता है कि इस नाम के साथ सब कुछ चलता है। ये प्रवृत्ति गांधीजी के बाद और कुछ हद तक गांधीजी के रहते हुए भी उनके आंदोलनों में कहीं दबी-छिपी पड़ी रहती थी। लेकिन जब वह गांधीजी के देखने में आती थी, जैसे चौरी-चौरा कांड हुआ, तो गांधीजी ने उस आंदोलन को स्थगित कर दिया। किन्तु उनके जाने के बाद तो अपने देश में यह प्रवृत्ति बहुत बढ़ गई है। जिन्हें सत्याग्रह में नैतिक रूप में कोई विश्वास नहीं है, बल्कि एक रणनीति के तौर पर वे इसे अपनाने को एक तरह से विवश हुए हैं, वे उसे सत्याग्रह का नाम देकर उसे गौरवान्वित करने की चेष्टा करते हैं। लेकिन सत्याग्रह का दुरुपयोग हो सकता है, इसलिए सत्याग्रह न हो— यह कौन सा तर्क है?

एक अन्य बात का जिक्र करना चाहूंगा। सत्याग्रह का एक नैतिक आधार है। ये आत्मा की शक्ति है, ये सत्य की शक्ति है और सत्य व पवित्रता का भाव इसको बल देता है। वह बल इसका दृढ़ नैतिक आधार है। लेकिन उस दृढ़ नैतिक आधार में आस्था कम ही लोगों की होती है। ज्यादातर लोग इसे रणनीति के तौर पर अपनाते हैं। और चूंकि खासतौर से हमारे देश में हम लोग एक तरह से निकम्मे लोग हैं, बुजदिल लोग हैं, हथियार उठा नहीं सकते, इसलिए सत्याग्रह की बात करते हैं। एक मुहावरा-सा चल गया है कि लाचारी का, मजबूरी का नाम महात्मा गांधी। तो लाचारी का नाम सत्याग्रह है, इस भाव से जो निर्बल की अहिंसा के रूप में इसका इस्तेमाल करते हैं, वे इसकी नैतिक शक्ति को खो देते हैं। इस नैतिक शक्ति के बिना सत्याग्रह का आधार नहीं है।

लेकिन मैं ऐसा समझता हूं कि संसार की जितनी भी चीजें हैं, वे ऐसे ही गुण-दोष मय होती हैं। बाबा तुलसीदास कह गए हैं— 'जड़-चेतन गुण-दोष मय, विश्व कीन करतार, संत-हंस गुन गहही, पय परिहरि वारि विकार।' यानि ये जो संसार है वह गुणदोष मय है। यहां गुण भी है और दोष भी है। ऐसी ही सृष्टि और रचना हमें मिली हुई है। इसमें से जो संत हैं, समझदार हैं, जो संवेदनशील हैं, वे उस मिले हुए दूध-पानी में से दूध को तो

ले लेते हैं और पानी को छोड़ देते हैं। तो जो बुराई है उसे छोड़ते हैं और उसमें जो अच्छाई है उसे ले लेते हैं। इसलिए सत्याग्रह के प्रयोग में या अहिंसात्मक प्रतिकार के प्रयोग में जो मानी हुई बुराईयां आ गई हैं, उनका कोई भी समझदार आदमी समर्थन नहीं करेगा। किन्तु इसके कारण सत्याग्रह के अमोघ अस्त्र को ही खारिज कर दिया जाए तो एक बड़ी हानि मनुष्य जाति की होने को है।

एक और जो प्रश्न इस सिलसिले में रह जाता है, उसका जिक्र अगर मैं न करूं तो मुझे लगेगा कि कुछ बात आधी-अधूरी रह गई और मैं उसे बचाकर निकल सा गया। कुछ अच्छे-भले मानस, अच्छे साधु-संत व विचारक की यह आपत्ति रही है कि अहिंसा की प्रतिष्ठा की एक शर्त यह है कि उसके प्रयोग में सामने वाले में हिंसा ना उपजे। ये प्रतिकार अहिंसात्मक है। उसका आधार सत्य और अहिंसा है और उसकी एक शर्त है कि वह सौम्य हो, सौम्यतर और सौम्यतम होता जाए। ऐसा हो जाए कि इससे सामने वाले में क्रोध न उपजे। अगर उसमें से क्रोध उपजता है तो कहीं सत्याग्रह में खोट है।

यह तर्क सुनने में बड़ा अच्छा लगता है। लेकिन अगर आप इसकी परीक्षा करें तो इसमें अन्याय के अहिंसक प्रतिकार को करीब-करीब स्थगित करने की युक्ति है। उसमें वह निहित है। यह तो सही है कि जो अहिंसा का प्रयोग करता है, उस प्रयोगकर्ता के मन में क्रोध न उपजे। इसको तो वह देख सकता है कि उसमें क्रोध आता है, और उससे अगर वह अपनी अहिंसा की निष्ठा से विचलित होता है, तो वह समझ में आता है। लेकिन सामने वाले में जिसके निहित स्वार्थों को ठेस लगती है, जिसके हितों को वह विसर्जित होते हुए देखता है, उसमें भी क्रोध न उपजे और इसको शर्त मान लेना, ये एक ज्यादाती मालूम पड़ती है। इतिहास का अनुभव यह है कि जिन्होंने भी एक प्रचलित रूढ़ि और अन्याय व अव्यवस्था के खिलाफ विद्रोह किया, उनके सामने वालों में जबरदस्त क्रोध उपजा। यह किस्सा इतिहास पुराण में भी आप देख सकते हैं। प्रह्लाद के प्रति उसके पिता में, सुकरात के प्रति एथेंस के नगर गणराज्य में, ईसा मसीह के

**एक मुहावरा-सा चल  
गया है कि लाचारी का,  
मजबूरी का नाम महात्मा  
गांधी। तो लाचारी का नाम  
सत्याग्रह है, इस भाव से  
जो निर्बल की अहिंसा  
के रूप में इसका इस्तेमाल  
करते हैं, वे इसकी नैतिक  
शक्ति को खो देते हैं।  
इस नैतिक शक्ति के  
बिना सत्याग्रह का  
आधार नहीं है।**



प्रति उनके ही यहूदी और रोमन शासकों में और हाल में तो मार्टिन लूथर किंग की हत्या में आप एक सिलसिला देख सकते हैं कि कुछ हल्का-फुल्का क्रोध नहीं, ऐसा क्रोध उपजा जिसमें उनकी हत्या ही कर दी गई। और कोई उदाहरण क्यों लें, गांधीजी की तो खुद हत्या हुई। इसी दिल्ली में उनको उस अवस्था में गोली मार दी गई, जब वे प्रार्थना सभा में जा रहे थे। वह सब आपकी आंखों के सामने से गुजर जाता है, जब कभी उस प्रांगण में आप जाते हैं। तो वह सब जाग्रत प्रमाण आप अभी भी देखते हैं, वह रक्त रंजित चादर और गोली के निशान वगैरह इसके ताजा साक्ष्य हैं कि इसकी कोई गारंटी नहीं की जा सकती कि सामने वाले में क्रोध नहीं ही होगा।

और अगर क्रोध उपजता है तो उसकी आशंका के कारण अन्याय के अहिंसक प्रतिकार से वह विरत रहता है, तो मैं समझता हूँ कि सत्याग्रही अपने धर्म से च्युत होता है। इस च्युति को कभी भी इस कल्पना में स्थान का अवकाश कम से कम मैं नहीं देखता और मेरे सौम्य, सौम्यतर, सौम्यतम मित्र ऐसा मानते हों तो मैं उनसे बरजता नहीं और न उनकी आस्था से उनको हिलाना ठीक समझता हूँ। मैं सिर्फ यह कहूँगा कि इन सब सैद्धांतिक आपत्तियों, विश्लेषण और वर्णन विश्लेषण, इनको समझते हुए उनमें से अगर कोई संदेश निकलता है तो ये कि हम सत्य, सत्त जो है उसको निरंजन आंखों से, बिना अंजन लगी आंखों से, सीधे-साक्षात् देखें। और उसमें से जो गलत लगे उसे गलत और जो सही लगे उसे सही कहें। उसमें से अन्याय दिखे तो उस अन्याय का तत्क्षण प्रतिकार करने को अपने को तैयार रखें। तभी सत्याग्रह की और उस पर बात करने की कोई सार्थकता है, अन्यथा नहीं।

गांधी शांति प्रतिष्ठान, नई दिल्ली में  
2 अक्टूबर सन् 2013 को दिए गए व्याख्यान के अंश।  
वक्ता श्री कृष्णनाथ दार्शनिक, विचारक, लेखक, साधक और एकाकी यायावर हैं।



# पुराना चावल

## टिमटिमाता नन्हा-सा यह दीपक

सोमदत्त वेदालंकार

**पिछले** दिनों खादी के संबंध में कई तरह की चर्चाएं चलती रही हैं। खादी के भविष्य के बारे में कई सवाल उठ रहे हैं। सहसा एक पुरानी घटना याद आ गई।

घटना उस सुहाने मंगलमय काल की है, जब देश एक नए उत्साह और नई उमंग के साथ गुलामी की जंजीरें तोड़ने में जूझ रहा था। आज उस काल को देश याद भी नहीं करना चाहता है और उस स्वर्णिम पुस्तक को ऐसा लगता है कि आगामी पीढ़ियों के लिए ही कालपात्र में बंद करके रख दिया गया है। उस पुस्तक के अनेक अध्यायों में से अचानक एक पृष्ठ स्मृति पटल पर उभर आया है।

सेवाग्राम आश्रम में सूत्रयज्ञ चल रहा था। बापू उसमें थे और संयोग ऐसा कि उस दिन पंडित नेहरू भी उस कताई कार्यक्रम में उपस्थित थे। कातते-कातते उन्होंने बापू से किंचित हास्य से सहज रूप में कह दिया, “बापू जब तक स्वराज नहीं आता है, आप जितना चाहें चर्खा कतवा लीजिए। स्वराज्य के बाद तो हम इस चर्खे को उठाकर खूंटी पर टांग देंगे या किसी कोने में रख देंगे।”

कातते-कातते बापू ने जरा ऊपर नजर की और संजीदगी से कहा—जवाहरलाल! ठीक है तुम चर्खे को खूंटी पर टांग देना, पर तब मेरा स्थान तुम्हारी जेल में होगा।

यह शंका कि आजादी के बाद चर्खे का कोई भविष्य नहीं होगा, उस

उत्तम कोटि के हमारे सर्वमान्य नेता ने ही कही थी, जिन्होंने कभी यह भी कहा था कि खादी आजादी की वर्दी है।

**खादी का अब कोई भविष्य नहीं है। देश का रथ तो औद्योगिक उन्नति के राजपथ पर सरपट दौड़ रहा है और जिस प्रकार इस रास्ते पर चलकर यूरोप और अमेरिका ने अकूत संपत्ति अर्जित की है, उसी तरह कुछ ही समय में हमारा देश भी हो जाएगा और इस राजमार्ग पर और इस उन्नत रथ के सामने चर्खे की भला क्या बिसात?**

स्वराज्य के बाद बहुत दफा यह बात सुधीजनों द्वारा कही जाती रही है कि खादी का इस उन्नत विकसित यांत्रिक युग में क्या स्थान है? क्या उपयोगिता है भला उसकी?

लोगों को लगता है कि खादी का अब कोई भविष्य नहीं है। देश का रथ तो औद्योगिक उन्नति के राजपथ पर सरपट दौड़ रहा है और जिस प्रकार इस रास्ते पर चलकर यूरोप और अमेरिका ने अकूत संपत्ति अर्जित की है, उसी तरह कुछ ही समय में हमारा देश भी हो जाएगा और इस राजमार्ग पर और इस उन्नत रथ के सामने चर्खे की भला क्या बिसात?

यह भी कहा जाता है कि खादी रोजगार देती है। पर कहां है भाई वह रोजगार? क्या 5-7 रुपए रोज देना भी कोई रोजगार है?

यह तो शोषण है, सीधा-सीधा शोषण।

और फिर यह भी माना जाता है कि खादी तो रिबेट की बैसाखी लेकर चलती है। रिबेट न हो तो खादी चारों खाने चित्त। ऐसी खादी क्या टिक सकती है? खादी वाले तो बस रिबेट, ब्याज मुक्त ऋण इसी तरह की मांग करते रहते हैं।

खादी के बजाय कुछ ग्रामोद्योग? हां, इनका जरूर कुछ स्थान हो सकता है।

खादी उत्पादन में तो एक तरह से ठहराव ही आ गया है। जो थोड़ी बहुत वृद्धि दिखाई देती है, वह तो बस कीमतों की बढ़ती के कारण रुपयों की शक्ति में ही दीखती है। मात्रा में तो खादी की गाड़ी जहां थी, वहीं खड़ी है, आगे सरकती ही नहीं।

और जब खादी का ही कुछ भविष्य नहीं है तो खादी-ग्रामोद्योग कमीशन की ही क्या आवश्यकता है? यह है खादी के बारे में लोगों की राय। तो क्या वास्तव में खादी का कोई भविष्य नहीं है और यदि आलोचकों की इन बातों में सार है तो कौन समझदार व्यक्ति खादी की उपयोगिता स्वीकार करेगा?

और जब आजादी से पहले हमारे हर दिल अजीज नेता ने भी खादी के बारे में यह सवाल उठाया था और आज के धुरंधर देशभक्त, देशाभिमानी और देश के पुनर्निर्माण में लगे हुए व्यक्ति भी उठाते हैं, तो उस पर गौर करना आवश्यक हो जाता है।

यह तो ठीक है कि देश में औद्योगीकरण की— केंद्रित उद्योगों की— आंधी लाई जा रही है। नए-नए विशालकाय उद्योग रोज-रोज चालू किए जा रहे हैं। उससे संपदा की भी वृद्धि हो रही है। और जब चारों तरफ इसी प्रकार की मांग हो और हर कोई नया उद्योग लगाने के लिए बेताब हो तो ये चंद सिरफिरे लोग क्या चर्खा-चर्खा करते हैं?

लेकिन यह भी तो उतना ही सत्य है कि देश में जहां संपदा के ये नए-नए पहाड़ खड़े हुए हैं, वहां देश में आज भी गरीबी की रेखा से नीचे रहने वाले करोड़ों लोग हैं। ये खाइयां भी तो मौजूद हैं। क्या उन्हें इस संपदा में से कुछ मिला है? स्वर्ण वर्षा के कुछ कण तो क्या तांबे के छेद वाले सिक्के भी उन तक पहुंचे हैं?

ये चौंकाने वाले तथ्य हमारे योजना आयोग ने ही बताए हैं कि देश में धनी और निर्धन के बीच खाई और गहरी हुई है। जहां धनी ज्यादा धनी हुए हैं, वहां निर्धन और निर्धन हुए हैं। देश में अन्न के भंडार हैं, रिकार्ड तोड़ उत्पादन हो रहा है, पर देश के करोड़ों व्यक्तियों के हाथ में आज भी भिक्षा पात्र ही है। उनके भिक्षा पात्रों में इस अन्नकूट में से कुछ पहुंच पाता है क्या? और उन तक भी अन्न के कण पहुंच सकें, इन चालीस सालों में ऐसी भी कोई योजना बनी है? तब यह उनके साथ क्रूरतम मजाक ही तो है कि केंद्रित उद्योगों के रथ को विकास के राजपथ पर सरपट दौड़ने के लिए छोड़ा जाए, भले ही उस रथ के पहिए इन अकिंचन व्यक्तियों की लाशों पर से ही क्यों न दौड़ रहे हों।

खादी क्या रोजगार देती है— पांच-सात रुपए ही तो। क्या इसे रोजगार कहा जाएगा? जरूर कहा जाएगा, जबकि देश की औसत आमदनी इतनी भी नहीं है। और रोजगार क्या है, भूख क्या है, उसकी कीमत क्या है, यह भरे

**देश में जहां संपदा के  
ये नए-नए पहाड़ खड़े हुए  
हैं, वहां देश में आज भी  
गरीबी की रेखा से नीचे रहने  
वाले करोड़ों लोग हैं। ये  
खाइयां भी तो मौजूद हैं।  
क्या उन्हें इस संपदा में  
से कुछ मिला है? स्वर्ण वर्षा  
के कुछ कण तो क्या तांबे  
के छेद वाले सिक्के भी  
उन तक पहुंचे हैं?**

हुए पेट और संपूर्ण ऐश्वर्य से मंडित व्यक्ति क्या जाने। रोजगार की कीमत वही जानता है, जिसे उन चंद सिक्कों से रात को अपना और अपने परिवार का पेट भरना होता है।

कोयंबतूर तमिलनाडु की एक औद्योगिक नगरी है। नए उद्योगों से मालामाल धनपतियों की नगरी। सामान्यतः यही माना जाएगा कि उस नगरी के आस-पास तो बसंती बयार ही बह रही होगी और कम से कम ऐसी जगह रोजगार पाने की कोई समस्या नहीं होगी।

लेकिन उस स्वर्णनगरी के पड़ोस की एक गरीब बस्ती में जाकर देखिए। एक परिवार का मुखिया रोजाना 15 से 20 रुपए तक मजदूरी कमाकर लाता

**अमेरिका की भोग, विलासिता की पूर्ति तो मैक्सिको, चिली, डोमीनिको और दूसरे बहुत से अविकसित कहे गए देश ही करते हैं। उनके अपने मजदूर सस्ती दरों पर काम करते हैं और वहां की खाद्य सामग्री, फल, पेट्रोल आदि अमेरिका को मिलते हैं। इन सब अविकसित देशों की कृषि और उद्योग सब बंधक पड़े हैं अमेरिका के पास। यह नई औपनिवेशिक गुलामी है, जिसमें देश अपने को स्वतंत्र मानता है पर उस पर नागपाश पड़ा है विकसित देशों का।**

है। उसका नौजवान लड़का कचरे के ढेर से बीनकर उस सामान को बेचकर 10-12 रुपया लाता है। और आश्चर्यों में आश्चर्य यह कि उसी परिवार की एक लड़की अंबर चर्खे पर कताई करके रोजाना 20 रुपया लाती है।

यह तो बस एक उदाहरण मात्र है। हर प्रदेश में ऐसे उदाहरण हजारों की संख्या में हैं, जहां चर्खे-कर्घे से ही महिलाएं और बुनकर अपनी गुजर-बसर कर रहे हैं। अत्यंत संवेदन-शून्य, समझ विहीन व्यक्ति ही कहेगा कि इस रोजगार की कोई कीमत नहीं।

और फिर यह तय करने का अधिकार तो उन कामगारों को होना चाहिए कि वे इस तथाकथित निम्नतम मजदूरी पर काम करना पसंद करेंगे या भूखों मरना। ऐसे लोग जो हर प्रकार से भरे-पूरे हैं, यह तय

करने का अधिकार भी वे अपने पास ही रखना चाहते हैं कि यह भी कोई रोजगार है? भले ही बिना उस रोजगार के उस गरीब के घर का चूल्हा ठंडा ही रह जाए।

कहीं ज्यादा गरिमापूर्ण होता यदि हमारे विद्वान अर्थशास्त्री, योजनाकार, अर्थशास्त्र के बड़े-बड़े सिद्धांतों के निर्माता इस बात को प्रतिपादित करते कि इस रोजगार में लगे व्यक्ति को उसका उचित मेहनताना मिलना ही चाहिए

और समाज को उसके द्वारा उत्पादित माल को ही— देखने में महंगा होने पर भी— स्वीकार करना चाहिए। अर्थशास्त्र क्या वह है जिसमें ऐसे व्यक्ति को उचित मजदूरी देकर उसका उत्पाद समाज द्वारा मान्य हो अथवा अर्थशास्त्र वह है जिसके तहत लाखों नहीं करोड़ों भूखे रहें, पर चंद लोगों को हर प्रकार का ऐश्वर्य भोगने का अधिकार हो? अंतिम व्यक्ति को दो जून रोटी की भी गारंटी न कर सके वह अर्थशास्त्र है या अनर्थशास्त्र?

गांधीजी ने इस अर्थशास्त्र के मुकाबले खादी का अर्थशास्त्र खड़ा किया। गांधीजी के अर्थशास्त्र में गरीब को पहले रोटी मिलने का प्रबंध होगा उसके बाद ही यदि कुछ बचे तो उन सुख-सुविधाओं का उपयोग चंद लक्ष्मी पुत्र कर सकेंगे।

आज का अर्थशास्त्र तो यह है कि अमेरिका की आबादी जो कुल दुनिया की आबादी का 6 प्रतिशत ही है, दुनिया के कुल साधनों का 35 प्रतिशत से भी ज्यादा उपभोग कर रही है।

अमेरिका की भोग, विलासिता की पूर्ति तो मैक्सिको, चिली, डोमीनिको और दूसरे बहुत से अविकसित कहे गए देश ही करते हैं। उनके अपने मजदूर सस्ती दरों पर काम करते हैं और वहां की खाद्य सामग्री, फल, पेट्रोल आदि अमेरिका को मिलते हैं। इन सब अविकसित देशों की कृषि और उद्योग सब बंधक पड़े हैं अमेरिका के पास। यह नई औपनिवेशिक गुलामी है जिसमें देश अपने को स्वतंत्र मानता है पर उस पर नागपाश पड़ा है विकसित देशों का। सारे संसार के 35 प्रतिशत से ज्यादा संसाधनों को लूट लेने के बाद भी अमेरिका में हजारों व्यक्ति भूखे सोते हैं। कूड़ेदान से खाद्य सामग्री बीन कर खाते हैं। कड़कड़ाती ठंड में रात को बिना छत के सोने के लिए मजबूर होते हैं। चर्खा इसी के विरुद्ध एक विद्रोह का स्वर है।

यह भी लांछन लगाया जाता है कि खादी वाले जब भी मिलेंगे तब रिबेट और ब्याज मुक्त ऋण की ही बात करेंगे। लेकिन और उद्योगपति भी क्या बात करते हैं? वे भी तो कम दाम पर जमीन, सस्ती दरों पर बिजली, बिक्री

**यह भी लांछन लगाया जाता है कि खादी वाले जब भी मिलेंगे तब रिबेट और ब्याज मुक्त ऋण की ही बात करेंगे। लेकिन और उद्योगपति भी क्या बात करते हैं? वे भी तो कम दाम पर जमीन, सस्ती दरों पर बिजली, बिक्री दर में अमुक समय तक माफी, ब्याज दरों में कमी, आयकर में छूट, मशीनों के आयात में छूट और फिर निर्यात किए जाने वाले माल में सब्सिडी— यही तो मांग करते हैं।**

दर में अमुक समय तक माफी, ब्याज दरों में कमी, आयकर में छूट, मशीनों के आयात में छूट और फिर निर्यात किए जाने वाले माल में सब्सिडी— यही तो मांग करते हैं। उनकी न अपनी पूंजी, न अपना श्रम। पूंजी आई बैंकों आदि से, श्रम आया मजदूरों के शोषण से। कीमत मनमानी रखने की छूट,

**खादी का उत्पादन जहां था, वहां ही रुक गया है— यह आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि खादी को किन प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। लाखों रुपया रिबेट का कमीशन के पास रुकता है, फिर स्टेट बोर्ड के पास रुकता है। बैंकों से ऋण मिलने में असाधारण देरी होती है। ऋण मिल जाने के बाद उस पर सरकार की ओर से दिए जाने वाले ब्याज की रकम महीनों बाद मिलती है, जिससे अतिरिक्त ब्याज का बोझ पड़ता है और उत्पादन के लिए पूंजी की भी कमी पड़ जाती है। उधर न सरकार का संरक्षण है और न कोई अन्य सुविधा। बाजार की गलाकाट प्रतियोगिता अलग।**

सरकार से बीसियों सुविधाएं— और उन्हें माना जाता है कि ये तो देश की संपदा बढ़ाने वाले उद्योग हैं! जबकि खादी में न शोषण है, न मुनाफा, सुविधाओं के नाम पर केवल नाममात्र का रिबेट तथा ब्याज मुक्त ऋण। और रोजगार भी सम्मानपूर्ण अपने घरों में बैठकर लाखों को मिल जाता है। इस उद्योग में 15-16 लाख लोगों को आंशिक व पूर्ण कालिक रोजगार मिल रहा है। इनमें भी 80 प्रतिशत महिलाएं हैं। आखिर देश में इतनी बड़ी तादाद में इतने व्यक्तियों का इस रोजगार से जुड़ना क्या यह नहीं दर्शाता कि इन्हें भी काम की जरूरत है?

इस प्रश्न को इस दृष्टि से भी सोचिए। यदि इन 12-15 लाख लोगों के हाथ से चर्खा छीन लिया गया तो ये क्या करेंगे? क्या कल्याणकारी राज्य का धर्म नहीं होगा कि इन्हें कुछ वैकल्पिक काम दें तो उसमें लगने वाली पूंजी या बेकारी का भत्ता यानी घर बैठकर पेंशन दें? इन दोनों में ही करोड़ों-अरबों रुपया लगाना समाज के लिए हितकर है या एक सीमित मात्रा में रिबेट दिया जाना ज्यादा हितकर है?

खादी का उत्पादन जहां था, वहां ही रुक गया है— यह आरोप लगाने वाले भूल जाते हैं कि खादी को किन प्रतिकूल परिस्थितियों में काम करना पड़ता है। लाखों रुपया रिबेट का कमीशन के पास रुकता है, फिर स्टेट बोर्ड के पास रुकता है। बैंकों से ऋण मिलने में असाधारण देरी होती है। ऋण मिल जाने के बाद उस पर सरकार की ओर से दिए जाने वाले ब्याज की रकम

महीनों बाद मिलती है, जिससे अतिरिक्त ब्याज का बोझ पड़ता है और उत्पादन के लिए पूंजी की भी कमी पड़ जाती है। उधर न सरकार का संरक्षण है और न कोई अन्य सुविधा। बाजार की गलाकाट प्रतियोगिता अलग। सरकार यही निर्णय कर ले कि हैंडलूम के बुनकरों को अंबर का सूत दिया जाएगा तो लाखों कत्तिनों को रोजगार मिल जाए। फिर भी खादी का यह नन्हा-सा दीपक टिमटिमा रहा है और चारों तरफ की आंधियां और तूफान इसे बुझा नहीं पाते। गरीबों को रोजगार मिलने से उनका आशीर्वाद मिलता है, गांधी की पुण्यार्थ है, यही इस दीपक की बाती है, यही तेल है, जो इसे बुझने नहीं देता।

खादी का भविष्य है। और यह तब तक है जब तक कि देश में कोई भी व्यक्ति रोजगार मांगता है, विशेषकर महिलाएं। याद रखिए देश में कुछ काम में, घंटों में स्त्रियों का भाग दो तिहाई, जबकि देश की कुल आय का दस प्रतिशत ही उन्हें मिलता है। इन महिलाओं को उनके घरों में बाइज्जत रोजी देने का काम चर्खा करता है। इसलिए खादी का भविष्य है।

यही नहीं संपूर्ण विश्व में ही जब तक यह संसारव्यापी शोषण का चक्र चल रहा है, अविकसित देश विकसित देशों की गुलामी के जुए तले हैं, तब तक खादी का भविष्य है। और यदि कभी यह दुष्चक्र समाप्त हो जाता है तो खादी उस नए जीवन की धुरी बनकर रहने वाली है। इसलिए आज की शोषणपूर्ण व्यवस्था में और भविष्य में जब कभी शोषण रहित समाज रचना होगी, तब भी खादी का भविष्य कायम ही रहने वाला है।

ग्रामोद्योगों की बात होती है। लेकिन खादी के बिना ग्रामोद्योगों का कोई ठिकाना नहीं है। बिना सूर्य के सौर मंडल के ग्रहों की चमक टिकेगी ही नहीं। खादी होगी तभी ग्रामोद्योग पनपेंगे। खादी और ग्रामोद्योग दोनों एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जब खादी का अर्थशास्त्र ठुकरा दिया जाएगा तो

**यदि सरकार और उसके योजनाकार खादी-कार्यक्रम को उपयोगी नहीं मानते हैं, तो खादी को दी जाने वाली सहायता तुरंत बंद कर दी जानी चाहिए। अश्रद्धा से दी गई सहायता खादी के सम्मान को गवारा नहीं है। श्रद्धा से सहायता दी जाए, समाज की शर्म से दी जाए, समाज के डर से दी जाए— यह सब स्वीकार्य है। पर अश्रद्धा से सहायता दी जाए तो वह स्वीकार्य नहीं है और यदि यह सहायता बंद करना सरकार समाज के हित में मानती है तो सहायता बंद कर दे।**



ग्रामोद्योगों का अर्थशास्त्र भी उसी तर्क पर, उसी दलील से एक झटके से समाप्त कर दिया जाएगा। आज भी प्रत्यक्ष रूप से ग्रामोद्योगों पर पूरा हमला हो रहा है। आज कृषि औजार तक केंद्रित उद्योग बना रहा है और लुहार और सुतार बेकार हो रहे हैं। चर्मोद्योग करीब-करीब सारा बड़े उद्योगपतियों के हाथ में चला गया है। गरीब चर्मकार को तो वहां आंसू पोंछने के लिए ही मजदूरी मिलती है।

इतनी स्पष्ट बात को भी न समझ कर यदि सरकार और उसके योजनाकार खादी-कार्यक्रम को उपयोगी नहीं मानते हैं, तो खादी को दी जाने वाली सहायता तुरंत बंद कर दी जानी चाहिए। अश्रद्धा से दी गई सहायता खादी के सम्मान को गवारा नहीं है। श्रद्धा से सहायता दी जाए, समाज की शर्म से दी जाए, समाज के डर से दी जाए— यह सब स्वीकार्य है। पर अश्रद्धा से सहायता दी जाए तो वह स्वीकार्य नहीं है और यदि यह सहायता बंद करना सरकार समाज के हित में मानती है तो सहायता बंद कर दे।

आइए देखें कालपात्र में रखी उसी पुस्तक का एक और पृष्ठ।

स्वराज्य मिलने के आसपास खादी कार्यकर्ताओं की एक सभा बापू के साथ हो रही थी। वहां किसी ने बापू से कहा कि अब स्वराज्य आया है तो जवाहरलालजी से कहकर खादी के लिए विशेष कार्यक्रम बनाना चाहिए। बापू ने कहा कि सरकार को इस काम में श्रद्धा नहीं है। बिना श्रद्धा के उनसे इस काम के लिए कहना गलत होगा।

यही बात हमारे लिए प्रकाश स्तंभ होनी चाहिए। यह देखते और मानते हुए भी कि खादी को दी जाने वाली यह नाममात्र की सहायता बंद करना समाज के प्रति घोर अपराध होगा, हम यह पसंद करेंगे कि इस प्रकार अश्रद्धा से दी जाने वाली सहायता को बंद कर दिया जाए।

खादी जगत के एक मजबूत स्तंभ सोमभाई  
खादी ग्रामोद्योग आयोग के अध्यक्ष भी रहे थे।  
यह लेख 1991 में दिए गए एक भाषण पर आधारित है।



# पोथी पढ़ि पढ़ि

## गांधी-फिशर संवाद

डॉ. अनिल पटेल

**मांगरोल** गुजरात में रहते हुए बस कोई 3-4 साल ही हुए होंगे। सन् 1984 के सर्दी के मौसम में मुंबई संघर्ष वाहिनी की अलका आ पहुंची। निकलते वक्त सन् 1951 में छपी लुई फिशर की 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' पुस्तक देकर गई और कहती गई इसे पढ़िए, आपको पसंद आएगी। गांधीजी की आत्मकथा तो बरसों पहले पढ़ी थी। खास कुछ याद नहीं था। सिवा इसके कि कुछेक प्रसंगों को लिपटकर बैठी हुई मुग्धता और थोड़ा भक्तिभाव का अंश भी सही। मांगरोल आने के कुछ ही दिन बाद कांतिशाह द्वारा संपादित 'गांधी जैसा देखा-समझा विनोबा ने' रसपूर्वक पढ़ डाली थी। गांधीजी की आध्यात्मिकता को समझने की तीव्र इच्छा थी। कुछ समझ में आया। कुछ नहीं भी।

लुई फिशर की 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' पढ़ता गया और उसी में जकड़ता भी गया। दिमाग की खिड़कियां खुलती गईं। फिशर की कलम से गांधी का मुख्यतः नैतिक और आंशिक रूप में आध्यात्मिक ताने-बाने से बुना हुआ भरपूर गतिविधियों का एक समृद्ध चित्र पढ़ने को मिला। 1950 के पहले गांधी का इतना सर्वांग-सुंदर चरित्र-लेखन किसी ने, और वह भी एक विदेशी ने लिखा हुआ हो, ऐसा मेरी जानकारी में नहीं था। तेंदुलकर का भी उसके बाद का है। गांधी को देखने-समझने की एक नई खोज शुरू हो गई। जीवन के अंत तक लौकिक जगत में खूंटता गाड़ कर बैठे हुए गांधी का अध्यात्म क्या है— उसका मुख्य तत्व, यदि हो तो क्या है— यह मेरी एक खोज का विषय बन गया।

लुई फिशर ने सबसे पहले जून 1944 में एक लेख लिखा था: 'ए वीक विथ गांधी'। श्री चन्द्रशंकर शुक्ल ने 'गांधीजी साथे एक अठवाडियुं' नाम से इस लेख का गुजराती अनुवाद किया था। वह भी हमारे हाथ अचानक ही आ गया। यह अनुवाद अब तक अप्राप्य था। श्री रमेशभाई संघवी ने बड़ी मेहनत

करके, पुरानी प्रति ढूंढकर उसका पुनः मुद्रण कर गुजरात को एक मूल्यवान भेंट दी है। उसके लिए उनका तो आभार ही मानना पड़ेगा।

**लुई फिशर ने 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' पुस्तक लिखने के पहले गांधीजी से एक लंबी मुलाकात ली थी। उसका तादृश्य अहवाल हाथ लगने से आनंद का एहसास हुआ। एक अकल्पित भेंट प्राप्त हुई। बिलकुल ताजगी भरा लेख। नया ही फिशर मानो हाथ लग गया। गांधी विचार से रंगे बिना, गांधी की राजनीतिक प्रवृत्तियों को उनके राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में समझने के लिए पूरी तरह सक्षम। मानव अधिकारों के हनन के प्रखर विरोधी फिशर के इस छोटे से अनौपचारिक दस्तावेज का ऐतिहासिक मूल्य अनन्य है।**

लुई फिशर ने 'द लाइफ ऑफ महात्मा गांधी' पुस्तक लिखने के पहले गांधीजी से एक लंबी मुलाकात ली थी। उसका तादृश्य अहवाल हाथ लगने से आनंद का एहसास हुआ। एक अकल्पित भेंट प्राप्त हुई। बिलकुल ताजगी भरा लेख। नया ही फिशर मानो हाथ लग गया। गांधी विचार से रंगे बिना, गांधी की राजनीतिक प्रवृत्तियों को उनके राष्ट्रीय-अंतरराष्ट्रीय संदर्भ में समझने के लिए पूरी तरह सक्षम। मानव अधिकारों के हनन के प्रखर विरोधी फिशर के इस छोटे से अनौपचारिक दस्तावेज का ऐतिहासिक मूल्य अनन्य है।

यह एक कसे हुए, पक्व पत्रकार द्वारा दिया गया आंखों देखा हाल है। इसमें सक्रिय होती दिखाई देती है देश के अति विकट प्रश्नों को हल करने की पद्धति और

उसके द्वारा उनकी नैतिक-आध्यात्मिक भूमिका में अनायास ही नजर डालने का एक ऐसा मौका जो अक्सर आसानी से नहीं मिल पाता। इसमें मिलती है पश्चिमी अनुभवी विचारक की एक ऐसी ताजी नजर जो भले ही पूरब के आध्यात्मिक रंगों से अपरिचित रही हो, लेकिन अब उन रंगों को इन्द्रधनुष की तरह देखती है, साथ ही पाठकों को दिखाती भी है।

लुई फिशर जब सन् 1942 में गांधीजी से मिलने सेवाग्राम आए तब तक वे अंतरराष्ट्रीय ख्याति प्राप्त कर चुके थे। यूरोप, अमेरिका, एशिया के सब

शीर्षस्थ राजनीतिक नेताओं के साथ व्यक्तिगत संबंध स्थापित कर चुके थे। रूजवेल्ट, चर्चिल, लोर्ड ज्योर्ज, स्टालिन, चांगकाई शेक, नेहरूजी जैसे नेताओं के साथ घनिष्टता से गुप्तगु कर चुके थे वे। दो विश्वयुद्धों के बीच के समय यूरोप-अमेरिका-एशिया के राजकारण और इतिहास की तफसील के जानकार थे और वे अपनी वस्तुलक्षिता, विश्वसनीयता और न्यायप्रियता के लिए मशहूर हो चुके थे। अमेरिका-यूरोप-ब्रिटेन में चलने वाली लोकतंत्र की लहर के प्रखर समर्थक थे। एशिया-अफ्रीका में इन देशों द्वारा मानवीय अधिकारों के भंग किए जाने पर बहुत तीव्र टीका करते थे। वे गांधीजी से अब तक मिले बगैर ही उनके चाहक और प्रशंसक बन गए थे।

फिशर की गांधीजी से पहली मुलाकात हो रही थी। उस समय देश और दुनिया में एक आंधी उठी थी। आज पौन सदी के बाद जब उस आंधी की सारी धूल बैठ गई है फिशर-गांधीजी की चिंताओं-विचारों के गहरे संकेतों को समझना शायद थोड़ा कठिन पड़ सकता है। उसे ठीक से समझने के लिए तत्कालीन ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य की जरूरत पड़ेगी। ठोस घटनाएं और प्रश्नों के तत्कालीन संदर्भ में ही नाजुक और कठिन निर्णय लेने वाले गांधीजी की समग्र मनोप्रक्रिया में चुपके से नजर डालने का मौका मिल सकता है। ऐसे ठोस संदर्भ में ही उनका अध्यात्म समझने का मौका मिल सकता है। इस परिप्रेक्ष्य को मैंने बड़े पैमाने पर फिशर की 'द लाईफ ऑफ महात्मा गांधी' से लिया: गांधीजी साथे एक अठवाडियुं— यानी गांधीजी के साथ एक सप्ताह।

सन् 1942 की शुरुआत थी। दूसरा महायुद्ध एक नाजुक दौर में प्रवेश कर चुका था। ब्रिटिश साम्राज्य का भविष्य दांव पर लगा था और उसी के साथ भारत की आजादी का सवाल भी।

एक तरफ थे चर्चिल। सन् 1939 में युद्ध के शुरू में फ्रांस के डंकर्क बंदर से इंग्लैंड अपने बचे खुचे दलों को, सैनिकों को वापस बुलाने में कामयाब रहा था। परंतु तब ब्रिटेन के पतन की घड़ियां गिनी जा रही थीं। बरफीली शांति

**तत्कालीन संदर्भ में ही  
नाजुक और कठिन निर्णय  
लेने वाले गांधीजी की समग्र  
मनोप्रक्रिया में चुपके से नजर  
डालने का मौका मिल सकता  
है। ऐसे ठोस संदर्भ में ही  
उनका अध्यात्म समझने का  
मौका मिल सकता है। इस  
परिप्रेक्ष्य को मैंने बड़े पैमाने  
पर फिशर की 'द लाईफ ऑफ  
महात्मा गांधी' से लिया:  
गांधीजी साथे एक अठवाडियुं—  
यानी गांधीजी के साथ  
एक सप्ताह।**

और फौलादी मनोबल वाले चर्चिल ने युद्ध की शुरुआत की काली रात्री में इंग्लैंड की प्रजा को दिए गए अपने एक संदेश में कहा था: मेरे पास आपको देने के लिए कुछ भी नहीं, सिवा खून, आंसू और कठोर परिश्रम के। इंग्लैंड की प्रजा पर उसका जादुई असर पड़ा था। सारा ब्रिटेन चर्चिल के पीछे एक

होकर खड़ा हो गया था। उसके पहले फ्रांस का पतन हो गया था। तब ब्रिटेन को अच्छी तरह पहचानने वाले गांधी ने भविष्यवाणी की थी। इंग्लिश प्रजा मरते दम तक झुकने वाली नहीं है। अनेक बार पीछे हटने के बावजूद उसको निराशा नहीं जकड़ सकेगी।

**चर्चिल यूरोप और अमेरिका के लोकतंत्र के चाहकों में मुक्त समाज के प्रहरी के रूप में अप्रतिम लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। फिर भी यही प्रहरी हिंदुस्तान को आजादी नहीं देने की हठ लेकर बैठा था। ठेठ 1935 में वे कह चुके थे कि गांधी और वह जिस काम के लिए खड़ा है, उसे बराबर समझ लेना चाहिए और आखिर में जाकर उसे दबोच देना है। नवंबर 1942 में तो उन्होंने हुंकार की थी कि मैं भारत को आजादी देकर ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए थोड़े ही शहंशाह का प्रधानमंत्री बना हूँ।**

चर्चिल यूरोप और अमेरिका के लोकतंत्र के चाहकों में मुक्त समाज के प्रहरी के रूप में अप्रतिम लोकप्रियता प्राप्त कर चुके थे। फिर भी यही प्रहरी हिंदुस्तान को आजादी नहीं देने की हठ लेकर बैठा था। ठेठ 1935 में वे कह चुके थे कि गांधी और वह जिस काम के लिए खड़ा है, उसे बराबर समझ लेना चाहिए और आखिर में जाकर उसे दबोच देना है। नवंबर 1942 में तो उन्होंने हुंकार की थी कि मैं भारत को आजादी देकर ब्रिटिश साम्राज्य का दिवाला निकालने के लिए थोड़े ही शहंशाह का प्रधानमंत्री बना हूँ।

दूसरी तरफ थे गांधीजी। दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की अग्नि में से तप कर आए थे। हिमालय जैसे धीर, शांत। ब्रिटिश राज्य को बुनियाद से हिलाने वाले। अडिग, निर्भय, अहिंसक, 54 किलो ग्राम वजन वाले गांधी स्वराज के लिए मर मिटने को तैयार। करोड़ों अर्ध-नग्न भारतीयों के हृदयसम्राट और उनकी आशा का प्रतीक। उसकी धीमी, शांत आवाज आठों दिशाएं हिला देने वाले युद्ध के नगाड़ों और प्रचार के नगाड़ों के बीच भी न सुनी जाए— यह बिलकुल नामुमकिन।

लुई फिशर ने सेवाग्राम आने से पहले दिल्ली में वाइसराय लिनलिथगो से भेंट की थी। उन्होंने कहा था “यह बुड्ढा हिंदुस्तान की सबसे बड़ी हस्ती है। मेरे साथ बहुत अच्छी तरह से पेश आता है। दक्षिण अफ्रीका से यहां वापस आने के बाद यदि यह संत ही बना रहता तो हिंद को कितना ही आगे ले जाता। परंतु राजनीति ने उसे ललचाया फिर उस तरफ बढ़ाया भी। चर्चिल लोखंडी मनोबल वाले हैं। वे चाहे जिसका गर्व हरण करने वाली संकल्पशक्ति के मालिक हैं।

लेकिन गांधीजी अपने प्रतिस्पर्धी चर्चिल को किसी भी सामान्य अर्थ में परास्त करना ही नहीं चाहते थे। उसमें तो उन्हें विश्वास भी नहीं था। प्रेम और अहिंसा के पुजारी को तो चाहिए था चर्चिल का हृदय परिवर्तन ताकि मुक्त जगत के इस संरक्षक के यह ध्यान में आए कि हिंदुस्तान की पीड़ित और दबी हुई प्रजा भी स्वराज-मुक्ति ही मांग रही है। दोनों का मक्सद तो एक ही जैसा था। गांधीजी की राय थी कि यदि ब्रिटेन हिंद को आजादी बहाल कर देगा तो नाजी जर्मनी के साथ छिड़े इस युद्ध में वह अधिक ऊंचे नैतिक स्तर पर चढ़ जा सकता था और उससे ब्रिटेन की विजय ज्यादा सुनिश्चित हो जा सकती थी। फिशर ने नोट किया है कि बहुत सारे लोग इसे गांधी के भावावेश का उदाहरण मान रहे थे। परंतु यही तो गांधी की महत्ता थी कि युद्धखोरी की इस गंदगी में भी गांधी की नैतिक आवाज अनसुनी नहीं की जा सकती थी।

खैर— चर्चिल की बात छोड़ दीजिए।

राजनीति में गहरे डूबे होते हुए भी गांधीजी जिस आध्यात्मिक भूमिका में स्थिर हुए थे उसे तो लिनलिथगो भी समझने में अक्षम ही रहे थे। नेहरूजी, सरदार पटेल, राजाजी, राजेन्द्र बाबू आदि गांधीजी की इस भूमिका को बहुत आदर से देख सकते थे और कमोबेशी मात्रा में इसे समझ भी सकते थे। वे इस भूमिका के प्रशंसक भी थे। परंतु हरदम उसे स्वीकार नहीं कर सकते थे।

**वे दक्षिण अफ्रीका के सत्याग्रह की अग्नि में से तप कर आए थे। हिमालय जैसे धीर, शांत। ब्रिटिश राज्य को बुनियाद से हिलाने वाले। अडिग, निर्भय, अहिंसक, 54 किलो ग्राम वजन वाले गांधी स्वराज के लिए मर मिटने को तैयार। करोड़ों अर्ध-नगन भारतीयों के हृदयसम्राट और उनकी आशा का प्रतीक। उसकी धीमी, शांत आवाज आठों दिशाएं हिला देने वाले युद्ध के नगाड़ों और प्रचार के नगाड़ों के बीच भी न सुनी जाए— यह बिलकुल नामुमकिन।**

मौलाना आजाद के बारे में इस बाबत कुछ कहना कठिन है। जिन्ना तो लिनलिथगो से भी बहुत दूरी पर थे और इसी तरह हिंदु महासभा भी!

गांधीजी की एक अलग ही लाक्षणिकता का परिचय फिशर बार-बार कराते हैं। इसे वे उनके अंतिम दिनों तक भी कराते रहे हैं: गांधीजी अपने

**नेहरू और अन्य नेताओं ने गांधीजी की उपस्थिति में ही, उनका पूरा विरोध होते हुए भी शर्त वाले समर्थन का प्रस्ताव पारित किया ही। उसके बाद गांधीजी ने उसका समर्थन भी किया। इतना ही नहीं उस प्रस्ताव को रखने दिल्ली लिनलिथगो से मिलने भी गए, कांग्रेस के प्रवक्ता के नाते। वाइसराय के हाथ तो बंधे हुए थे। उन्होंने गोल-मोल जवाब दे दिए। कांग्रेस ने अपना समर्थन वाला प्रस्ताव वापस खींच लिया।**

घनिष्ठ साथियों को उनके आदर्शों से अलग पड़ते देख दुखी होते। परंतु ये लोग वापस आते फिर से उनके ही समर्थन में। कई बार तो दुहरी लगन से आ जाते। हमने कई बार सुना है कि गांधीजी के नजदीक के साथियों ने उनसे विश्वासघात किया है। यह वास्तविकता तो बहुत ही गुत्थी वाली और कठिन ही थी। ऐसी किताबें पढ़ने से इन बातों का सही ख्याल आता है। ऐसे विधानों को ऐतिहासिक तथ्यों का समर्थन भी है, ऐसा नहीं लगता। यहां भी लगता है कि भावावेश से लिप्त मन में ऐसी प्रतिक्रियाएं पैदा होती होंगी।

तीन जुलाई सन् 1939 के दिन ब्रिटेन ने जर्मनी के खिलाफ युद्ध घोषित किया था। उसके दूसरे ही दिन गांधीजी वाइसराय से मिलने शिमला गए थे। उसके बाद उन्होंने सार्वजनिक रूप से यह कहा था कि ब्रिटिश सरकार को वे क्षोभ की स्थिति

में नहीं डालेंगे। उनका नैतिक समर्थन तो मित्र राष्ट्रों के लिए ही है। लेकिन एक शांतिवादी होने से युद्ध के प्रयत्नों में नहीं शामिल हो सकेंगे। यदि ऐसी परिस्थिति में भारत पर भी हमला होता है तो उसका प्रतिकार भी वे लश्कर द्वारा नहीं करेंगे।

गांधीजी की इस अहिंसक आदर्शवादिता से अलग पड़ने वाली कांग्रेस तो ब्रिटिश सरकार को युद्ध प्रयत्नों में मदद देने को तैयार थी बशर्ते सरकार आजादी देने की बात कबूल कर ले। गांधीजी की अहिंसा में ऐसा सशर्त समर्थन नहीं हो सकता था। तब कांग्रेस की बात सही थी, ऐसा हम जैसों को भी लगता था।

नेहरू और अन्य नेताओं ने गांधीजी की उपस्थिति में ही, उनका पूरा विरोध होते हुए भी शर्त वाले समर्थन का प्रस्ताव पारित किया ही। उसके बाद गांधीजी ने उसका समर्थन भी किया। इतना ही नहीं उस प्रस्ताव को रखने दिल्ली लिनलिथगो से मिलने भी गए, कांग्रेस के प्रवक्ता के नाते। वाइसराय के हाथ तो बंधे हुए थे उन्होंने गोल-मोल जवाब दे दिए। कांग्रेस ने अपना समर्थन वाला प्रस्ताव वापस खींच लिया। टीका करने वाले गांधीजी पर टूट पड़े: जिस प्रस्ताव का आपने ही विरोध किया था, उसका ऐसा समर्थन? यह तो कितना बड़ा अंतरविरोध है?

गांधीजी का जवाब पढ़ने लायक है: मैं अपने श्रेष्ठ साथियों का इस वास्ते त्याग कर दूँ कि वे अहिंसा को आगे ले जाने वाले मेरे व्यवहार को नहीं स्वीकारते तो वह अहिंसा की कुसेवा कहलाएगी। इस कारण मैं तो उनके साथ ही रहूँगा और श्रद्धा रखूँगा कि अहिंसक पद्धति से उनका अलग पड़ जाना सीमित क्षेत्र और सीमित समय के लिए ही मर्यादित रहेगा।

ऐसा लग रहा है कि अहिंसा को लागू करने की श्रेष्ठ पहली योजना यदि अन्य साथियों और लोगों को स्वीकार्य नहीं होती तो फिर उससे भी आसान एक और योजना अपनाने के लिए वे तैयार होते। उनकी यह रीति अनगिनत बार आजादी की लड़ाई में हमें देखने को मिली है। सिद्धांतों के साथ किसी प्रकार का मूलभूत खिलवाड़ किए बगैर सभी को साथ लेकर चलने की गांधीजी की पद्धति उनको दुनिया के परिपक्व

राजनीतिक नेताओं की अग्रिम कतार में आसानी से रख देती है। संत तो थे ही वे। उसमें दो राय नहीं। साथ ही दुनियादारी जानने वाले नेता भी वे ऊंचे दर्जे के। इतनी सारी सुभग संवादिता अत्यंत दुर्लभ है। इस कारण गांधी और उनके साथियों के बीच की केमिस्ट्री अद्भुत दिखती है। कहना चाहिए कि गांधीजी और निकट के उनके साथियों के बीच की नैतिक भूमिका वाला टकराव फिशर में मुझे स्पष्ट दिखाई पड़ता है। वह ठीक समझ में आता है।

**गांधीजी का जवाब पढ़ने लायक है: मैं अपने श्रेष्ठ साथियों का इस वास्ते त्याग कर दूँ कि वे अहिंसा को आगे ले जाने वाले मेरे व्यवहार को नहीं स्वीकारते तो वह अहिंसा की कुसेवा कहलाएगी। इस कारण मैं तो उनके साथ ही रहूँगा और श्रद्धा रखूँगा कि अहिंसक पद्धति से उनका अलग पड़ जाना सीमित क्षेत्र और सीमित समय के लिए ही मर्यादित रहेगा।**



विभाजन का निर्णय या आजादी के बाद कांग्रेस का विसर्जन करने वाला गांधीजी का सुझाव लीजिए। इसे जैसे बड़े प्रश्नों में दो पक्षों के बीच के मतभेदों की तरह देखिए। इसे एक पक्ष ने विश्वासघात किया— ऐसा नहीं देखना चाहिए। इन प्रश्नों को जजबाती अर्थ में नहीं लेना चाहिए।

चर्चिल तो अड़कर बैठे थे। टोरी नेतागिरी भी। रूजवेल्ट की मध्यस्थता को भी उन्होंने ठुकरा दिया था। हिंद का लोकमत ब्रिटेन के खिलाफ और फॉसिस्ट राज्यों की ओर मुड़ने लगा था। चिंतित कांग्रेस इस रुख को रोकना चाहती थी। नेहरू को अभी भी आशा थी कि रूजवेल्ट की मध्यस्थता

**चर्चिल समझौते के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं। फिर से कांग्रेस गांधीजी के चरणों में। गांधीजी ने सौम्य प्रकार के व्यक्तिगत सविनय कानून भंग का रास्ता दिखाया। नागपुर झंडा सत्याग्रह। लिनलिथगो बहुत बेचैन थे। किंतु कोई भी कदम उतावली में उठाते नहीं। जानते थे सामने खड़ा है गांधी!**

कामयाब रहेगी। गांधीजी के शुद्ध फॉसिस्ट विरोध के होते हुए कांग्रेस वर्किंग कमिटी ने फिर एक बार राजाजी का जुलाई 1940 का प्रस्ताव मंजूर किया। वही बात फिर से उठाई कि एक तरफ स्वतंत्रता तो दूसरी तरफ युद्ध प्रयत्नों में सहयोग। सभी यह स्वीकारते हैं कि गांधीजी तय कर लेते तो वे उस प्रस्ताव को गिरा सकते थे। लेकिन गांधीजी ने वैसा नहीं किया। टीकाओं की मार के बीच वे अडिग रहे। फिशर लिखते हैं: व्यक्ति की आजादी में उनकी निष्ठा इतनी गहरी थी कि दूसरों पर दबाव लाकर उनकी इच्छा के विरोध में मत देने का रास्ता वे स्वीकार नहीं करते थे।

लेकिन सामने थे हठी चर्चिल। समझौते के लिए बिलकुल भी तैयार नहीं। फिर से कांग्रेस गांधीजी के चरणों में। गांधीजी ने सौम्य प्रकार के व्यक्तिगत सविनय कानून भंग का रास्ता दिखाया। नागपुर झंडा सत्याग्रह। लिनलिथगो बहुत बेचैन थे। किंतु कोई भी कदम उतावली में उठाते नहीं। जानते थे सामने खड़ा है गांधी!

युद्ध ने बुरा मोड़ लिया। जून 1942 में हिटलर ने रूस पर आक्रमण किया। रोमेल के सेना दल उत्तर अफ्रीका में उतर आए और मिस्र की ओर आगे बढ़े। 7 दिसंबर 1941 को जापान ने अमेरिका के पर्ल हार्बर पर धावा बोल दिया। अमेरिका आखिर युद्ध में जुड़ ही गया। पर्ल हार्बर के बाद बिजली की गति से जापान ने शंघाई, थाईलैंड, मलाया, हांगकांग, सिंगापुर,

जावा, सुमात्रा पर कब्जा कर लिया और मार्च 1942 में जापान की सेना ने बर्मा से रंगून में प्रवेश किया। ब्रिटेन की लश्करी ताकत जापान के सामने टिक ही नहीं सकती थी। युद्ध अब हिंद के दरवाजे पर आकर खड़ा हुआ था। देश में एक तरफ आशा तो दूसरी तरफ दहशत। डर की लहरें दौड़ गईं। कभी भी, कुछ भी हो सकता है— ऐसे आसार दिखने लगे। कांग्रेस की चिंता और भी बढ़ गई— देश का लोकमत फासीवादियों की तरफ झुक जाएगा। एक बार फिर से गांधी-कांग्रेस आमने-सामने।

इतिहासकार निआल फर्ग्युसन लिखते हैं कि पर्ल हार्बर पर के हमले से तितर-बितर होने के बदले चर्चिल बहुत ही खुश हुआ। कारण कि अमेरिका का युद्ध में जुड़ना अब निश्चित हो गया था। पहले रूस और अब अमेरिका। चर्चिल को तो यही चाहिए था।

लेकिन अमेरिकन लोकमत हिंद के प्रश्न के संबंध में चिंतित था। ब्रिटेन की मिश्र सरकार के लेबर पार्टी के मंत्री भी चर्चिल पर दबाव ला रहे थे। चर्चिल को झुकना पड़ा। उनकी कैबिनेट के ही एक जवान, तेजस्वी लेबर मंत्री सर स्ट्रेफोर्ड क्रिप्स को कुछ प्रस्तावों के साथ मार्च 1942 में हिंद भेजा गया। क्रिप्स नेहरू के समकालीन और मित्र भी थे। नेहरू को और गांधीजी को उसके कारण कुछ आशाएं बंधी होंगी। लेकिन क्रिप्स के प्रस्ताव ठीक नहीं थे। वे हिंद को बस वसाहती दर्जा

दे रहे थे। साथ ही साम्राज्य से अलग होने की आजादी भी। यह तो चलो ठीक। लेकिन युद्ध के बाद अस्तित्व में आने वाली घटनात्मक व्यवस्था में यूनियन के घटक प्रांत यानी राजा-रजवाड़ों को यूनियन में से अलग होने का हक भी दे रहे थे। देश के दो टुकड़े ही— हिंदु और मुसलमान नहीं तीन या उससे भी अधिक टुकड़े होने की पूरी आशंका उस प्रस्ताव में पड़ी थी। गांधीजी क्रिप्स से मिले। उनका प्रस्ताव देखा और फिर उनके मुंह पर ही सीधा कह दिया कि यदि आपको यही देना था तो यहां तक आने की

**क्रिप्स के प्रस्तावों में से एक हिंद में युद्ध संचालन को लेकर भी था। सत्ता पलटने पर भी युद्ध का समग्र संचालन ब्रिटेन के ही हाथ में रहने वाला था। कांग्रेस संपूर्ण स्वतंत्रता के साथ युद्ध प्रयत्नों में भी अपनी सक्रिय भागीदारी चाहती थी। गांधीजी को इसमें किसी प्रकार की रुचि नहीं थी। उनकी मांग थी संपूर्ण स्वराज और हिंद की भूमि पर से परदेसी फौज की तत्काल बिदाई। और यदि ऐसा नहीं होता तो उनकी देशव्यापी सविनय कानून भंग की लड़ाई।**

तकलीफ ही क्यों की आपने। तुरंत अगले हवाई जहाज से लंदन वापस जा सकते हैं। गांधीजी तो तुरंत ही सेवाग्राम लौट आए। क्रिप्स के इस जोखम भरे प्रस्ताव के बाद भी कांग्रेस किसी प्रकार का रास्ता ढूंढना चाहती थी। गांधीजी ने फिर से प्रयत्नों की राह खोल दी।

क्रिप्स के प्रस्तावों में से एक हिंद में युद्ध संचालन को लेकर भी था। सत्ता पलटने पर भी युद्ध का समग्र संचालन ब्रिटेन के ही हाथ में रहने वाला था। कांग्रेस संपूर्ण स्वतंत्रता के साथ युद्ध प्रयत्नों में भी अपनी सक्रिय

**कांग्रेस के अंतिम प्रयास भी निष्फल होते हों तो सत्याग्रह की लड़ाई शुरू करना— यह था गांधीजी का निर्णय। क्रिप्स कांग्रेस की मांग स्वीकार करेंगे, ऐसी संभावना नहीं थी। उसने दरवाजे बंद कर बाजी सुधारने के प्रयास शुरू किए। कांग्रेस के प्रतिनिधि मौलाना साहब के साथ संधिवार्ता आगे बढ़ रही थी। लिनलिथगो ने चर्चिल को जानकारी दी और चर्चिल ने क्रिप्स को रोक दिया। रूजवेल्ट को जब यह सब पता चला तो उन्होंने फिर से चर्चिल को मनाने की कोशिश की। लेकिन वे तो बिलकुल तैयार नहीं थे।**

भागीदारी चाहती थी। गांधीजी को इसमें किसी प्रकार की रुचि नहीं थी। उनकी मांग थी संपूर्ण स्वराज और हिंद की भूमि पर से परदेसी फौज की तत्काल बिदाई। और यदि ऐसा नहीं होता तो उनकी देशव्यापी सविनय कानून भंग की लड़ाई।

कांग्रेस के अंतिम प्रयास भी निष्फल होते हों तो सत्याग्रह की लड़ाई शुरू करना— यह था गांधीजी का निर्णय। क्रिप्स कांग्रेस की मांग स्वीकार करेंगे, ऐसी संभावना नहीं थी। उसने दरवाजे बंद कर बाजी सुधारने के प्रयास शुरू किए। कांग्रेस के प्रतिनिधि मौलाना साहब के साथ संधिवार्ता आगे बढ़ रही थी। लिनलिथगो ने चर्चिल को जानकारी दी और चर्चिल ने क्रिप्स को रोक दिया। रूजवेल्ट को जब यह सब पता चला तो उन्होंने फिर से चर्चिल को मनाने की कोशिश की। लेकिन वे तो बिलकुल तैयार नहीं थे। चर्चिल ने क्रिप्स को किसी प्रकार का समाधानकारी मार्ग खोजने से रोका। रूजवेल्ट ने अपनी बात छोड़ दी। फिशर या गांधीजी को इस

तरह परदे के पीछे क्या घटित हो रहा था, उसकी कोई जानकारी उस समय नहीं थी। फिशर ने अपनी पुस्तक में इसकी तफसील दी है।

10 अप्रैल 1942 के दिन क्रिप्स खाली हाथ लंदन वापस लौटे। वातावरण में अनिश्चितता, दहशत और असमाधान भरा हुआ था। अब सबकी नजरें गांधीजी

की तरफ थीं। गांधीजी सोच रहे थे सविनय कानून भंग, सत्याग्रह का कदम। हरिजन साप्ताहिक में उन्होंने उसकी चर्चा शुरू भी कर दी थी।

बिलकुल इन्हीं दिनों फिशर का पहली बार भारत आगमन हुआ है। फिशर नेहरू के मित्र। उनके द्वारा गांधीजी से भेंट का समय मांगा। महादेव भाई ने तार से सूचना भेजी, चले आओ।

फिशर 3 जून से 10 जून तक एक सप्ताह भर गांधीजी के साथ सेवाग्राम में रहे। मध्य भारत और जेठ का महीना। आसमान से तो मानो अग्नि वर्षा ही हो रही थी। वहां बिजली तक की सुविधा नहीं थी। पंखे, लाइट बिना सेवाग्राम में रहना था। जलती-जलाती दोपहर के तीन बजे गांधी कुटी में रोजाना एक घंटा गांधी फिशर की भेंट आयोजित हुई थी। सुबह-शाम घूमने जाना और भोजन के समय होने वाली चर्चाएं और हंसी-मजाक नफे में! आश्रम में अनेक लोग मिलने आते रहे, सबका आवन-जावन चलता ही रहता। फिशर उन लोगों के साथ भी चर्चाएं करते। आश्रमवासियों के साथ भी अनेक विध चर्चाएं करते। इन सब मुलाकातों, चर्चाओं की छोटी-से छोटी बातें फिशर छोटी-छोटी पर्चियों पर नोट करते और उन्हें बड़े संभालकर रखते जाते। इन पर्चियों में से ही निकली थी यह छोटी-सी किताब। 84 पन्नों की। और फिर उसका गुजराती अनुवाद।

इस छोटी-सी पुस्तिका में ध्यान खींचने वाली एक खासियत यह है कि यह बिलकुल छोटी, रोजाना घटने वाली घटनाओं को गहरे अवलोकन के साथ, कभी गंभीर होकर तो कभी हल्की-सी शरारत, मजाक, मसखरी से देखते चलती है। हिंद के, दुनिया के भूत, वर्तमान, भविष्य के गंभीर प्रश्नों की ये सब चर्चाएं एक साथ एक ही बुनाई में खूबसूरती से बुन दी थीं फिशर ने। बहुत ही सहजता से गांधी-फिशर संवाद एक मुद्दे से दूसरे मुद्दे की तरफ सरकता जाता है। फिशर को गांधी के लिए अत्यंत आदर है। लेकिन यह पश्चिमी दिमाग पूज्यभाव नाम की कोई चीज होती है, इससे बिलकुल ही अनजान है। गांधीजी को देखने-समझने का उसका चश्मा एकदम वस्तुनिष्ठ है। और यही बात गांधीजी को बहुत ही भा जाती है। पसंद आती है। महादेव भाई ने फिशर से कहा था कि सन् 1939 से गांधीजी कई विदेशियों के साथ बातचीत करते रहे हैं। उनमें तुम्हारे साथ हुई बातचीत सबसे अलग है।

फिशर के शब्दचित्र ध्यान खींच लेते हैं। गांधीजी के साथ दोपहर की मुलाकात के बाद अपनी कुटी में लौटने के बाद गरमी से बचने, लड़ने की कोशिश करने वाले फिशर पानी से भरे एक टब में लकड़ी के बक्से पर

तौलिया रखकर उस पर बैठे-बैठे अपनी पर्वियों को टाइप करते हैं। बीच-बीच में पानी का एकाध लोटा अपने शरीर पर भी डाल लेते हैं। उनका तफसील से मजाकिया और शरारती वर्णन पाठक को जकड़ भी लेता है और हंसाता भी है।

फिर उनकी नहानी, स्नानघर में पानी भरने का, हंडे भरने का काम करने वाली बहन का शब्दचित्र या जब फिशर सबसे पहले आश्रम के आंगन में गांधीजी से पहली बार मिले थे। तब के गांधीजी की शारीरिक अवस्था का वर्णन। ये शब्द चित्र पाठक के सामने साक्षात् उन दोनों को खड़ा कर देते हैं। फोटो की भी तब कोई आवश्यकता नहीं बचती।

फिर हर रोज खाने के समय में फिशर को आग्रह करके एक-सी ही बिना मसाले की उबली हुई कोहले की सब्जी परोसते शरारती गांधी और गांधी के इस आग्रह को एकदम बिना संकोच नकारने वाले फिशर— अपना खुद का शब्दचित्र भी उतना ही साकार सा कर जाते हैं, पाठकों की आंखों में। फिशर की नजर से देखा हुआ आश्रम की भोजनशाला का वर्णन, रस वाले आम को किस प्रकार मसक-मसक कर चूसा जाए— यह सिखा रहे हैं गांधीजी। सीख रहे हैं फिशर।

एक अमेरिकी पत्रकार द्वारा किया गया यह वर्णन विनोदी तो है ही, लेकिन एक नई दृष्टि भी देता है। और फिर रात को फिशर के कमरे के आंगन में जलाया हुआ फानस रखकर जाने वाली खुर्शीदबहन फिशर को सावधान करती हैं, “रात को बिना फानस के नीचे जमीन पर पांव न रखें। यहां बिच्छु होते हैं”— ऐसी एकदम सादी, सीधी, नगण्य लगने वाले छोटी-छोटी बातें, प्रसंग, हकीकतों से भरी बातों के बीच गहन विषयों की चर्चाओं को फिशर कुशलतापूर्वक बढ़िया ढंग से चित्रित करते जाते हैं, पिरोते जाते हैं।

डॉ. अनिल पटेल आज से कोई तीस बरस पहले इंग्लैंड से भारत वापस लौट आए और यहां गुजरात के मांगरोल गांव में स्वास्थ्य की सेवाएं देने लगे। महामारी रोगों के विशेषज्ञ डॉ. पटेल ने ‘आर्च वाहिनी’ नामक संगठन के माध्यम से उन्हीं दिनों नर्मदा बांध से विस्थापित हो रहे परिवारों के पुनर्वास का भी काम किया था। शूलपाणेश्वर अभयारण्य में वनवासियों के वनाधिकारों का प्रश्न भी उन्होंने उठाया था।



# टिप्पणियाँ

## गुजरात: विकास से उपजा विनाश

गुजरात के विकास की आजकल देश भर में चर्चा है। लेकिन बहुत कम लोगों को यह जानकारी है कि इस विकास ने वहां के पर्यावरण को भारी रूप से प्रदूषित किया है। आर्थिक संपन्नता की दौड़ में पिछले कई वर्षों से गुजरात में कई प्रकार के रसायनों का जहर फैला है। वर्ष 1989 में तत्कालीन केंद्रीय पेट्रोलियम व रसायन मंत्री श्री ब्रह्मदत्त ने स्वीकार किया था कि गुजरात में प्रदूषण की समस्या काफी गंभीर है। उस समय अंकलेश्वर में लगभग 200 कारखानों में दो-चार नहीं, कोई 50 हजार प्रकार के प्रतिबंधित रसायनों का उपयोग होता पाया गया था।

राजकोट के जेतपुरा में साड़ियां रंगने के कारखानों के कारण कई कुओं का पानी तब इतना रंगीन हो गया था कि लोग मजाक में उसे कोकाकोला कहते थे। सन् 1992-93 में भी केंद्र सरकार ने देश में जिन 19 प्रदूषित स्थानों की पहचान की थी, उनमें गुजरात का वापी भी था।

आज सरकारी जानकारी के अनुसार राज्य में लगभग 9000 उद्योग हैं, जो जल और वायु प्रदूषण फैलाते हैं। इनमें लगभग 2500 रासायनिक उद्योग हैं। मई 1995 में हाईकोर्ट ने अहमदाबाद, वापी, अंकलेश्वर में फैले 1500 उद्योगों से पैदा हुए प्रदूषण पर सुनवाई करते हुए, कुछ को समय सीमा में प्रदूषण नियंत्रण करने और कुछ को बंद करने के आदेश दिए थे।

रंगाई उद्योग में काम आने वाले नेप्थाल-डाय-सल्फोनिक एसिड व मेथाबिलिक एसिड के निर्माण के खतरनाक कारखानें भी यहां चल रहे थे। भारी प्रदूषण के कारण इन रसायनों का निर्माण विदेशों में प्रतिबंधित है। उत्तरी गुजरात के छत्रल से वापी तक फैला क्षेत्र प्रदूषण की दृष्टि से काफी खतरनाक माना गया है। इसी क्षेत्र में आने वाले अन्य शहर अहमदाबाद, आणंद, बड़ौदा, अंकलेश्वर, हजीरा, सूरत और बलसाड़ हैं, जहां बड़े-बड़े औद्योगिक कारखानों के कारण काफी प्रदूषण फैल रहा है। अहमदाबाद के नरोड़ा में स्थित

मोनोक्लोरो एसिटिक अम्ल का कारखाना भी खतरनाक श्रेणी में ही है।

सबसे गंभीर स्थिति मध्य व दक्षिण गुजरात की है। यहां नंदेसरी औद्योगिक क्षेत्र में सर्वाधिक, लगभग 300 रासायनिक उद्योग काम कर रहे हैं। पूरे राज्य में लगभग 30 ऐसे कारखाने हैं जो खतरनाक रसायनों का निर्माण करते हैं। केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण मंडल ने वर्ष 2007 से 2009 तक अध्ययन करने के बाद अपनी एक रिपोर्ट में बताया था कि देश के 88 औद्योगिक क्षेत्रों में से 75 से 85 प्रतिशत भारी प्रदूषण युक्त हैं। भारी प्रदूषण वाले सर्वोच्च 10 क्षेत्रों में गुजरात के अंकलेश्वर व वापी, प्रथम व दूसरे स्थान पर थे। इन औद्योगिक क्षेत्रों में प्रदूषण नियंत्रण के ठोस प्रयास न होने के कारण यहां का पानी हवा और तो और जमीन भी जहरीली हो चली है। ये जगहें रहने लायक भी नहीं बच पाएंगी।

अब केंद्रीय प्रदूषण नियंत्रण मंडल द्वारा वर्ष 2013 में जारी एक रिपोर्ट के अनुसार देश के 29 प्रतिशत औद्योगिक कचरे के साथ गुजरात सबसे ज्यादा प्रदूषित राज्य है। फिर आते हैं महाराष्ट्र व आंध्रप्रदेश। गुजरात में सर्वाधिक प्रदूषण का कारण गोल्डन कॉरिडोर बताया गया है, जहां स्थित कारखानों से प्रति वर्ष लगभग 60 लाख टन कचरा पैदा होता है। यूरोप व अमेरिका से बाहर फेंक दिए गए कई रासायनिक कारखाने यहां आकर अपना उत्पादन कर रहे हैं। साफ पानी किसानों को यहां मिलता

नहीं। इसलिए वे इसी प्रदूषित पानी से सिंचाई करते हैं। इससे पैदा की गई सब्जियों में भारी धातुओं की उपस्थिति पाई गई है। कुछ गैर सरकारी संगठनों ने अध्ययन कर बताया है कि गुजरात के कुछ क्षेत्रों में हवा में कैंसरजन्य पदार्थ भी उपस्थित हैं। रासायनिक कारखानों की अधिकता के कारण पर्यावरणविद् गुजरात को रासायनिक बम पर टिका हुआ मानते हैं। खतरनाक कारखानों के क्षेत्र में यदि कभी तेज भूकंप आ गया या कोई दुर्घटना हो गई तो यहां भी जापान जैसी त्रासदी आने की आशंका बराबर बनी रहेगी।

ओ.पी. जोशी



### चुटका: शहर से एक संवाद

मध्य प्रदेश के जबलपुर, भोपाल, इंदौर जैसे शहरों में रहने वालों को शायद यह पता भी नहीं होगा कि जिला मंडला के पांच गांवों में अप्रैल से मई 2013 के बीच में क्या-क्या हुआ। यहां राज्य सरकार चौदह सौ मेगावाट बिजली पैदा करने के लिए दो परमाणु ऊर्जा संयंत्र लगा रही है। नियम यह कहता है कि इसे बनाने से पहले ऐसा अध्ययन किया जाना चाहिए, जिससे पता चले कि इस योजना से चुटका क्षेत्र की हवा, पानी, जमीन, पेड़-पौधों, चिड़िया, गाय, केंचुओं, कीड़े-मकोड़ों आदि पर पड़ने वाले प्रभावों के बारे में बारीक जानकारी मिल सके और सरकार-समाज मिलकर

यह तय करें कि हमें यह संयंत्र लगाना चाहिए कि नहीं।

चुटका के लोगों और संगठनों ने पूछा कि राजस्थान के रावतभाटा संयंत्र की छह किलोमीटर की परिधि में बसे गांवों में कैंसर और विकलांगता पर सरकार चुप क्यों है? क्या यह सही नहीं कि इन संयंत्रों से निकलने वाले रेडियोधर्मी कचरे का यहीं उपचार भी होगा और वह जमीन में जाकर अगले दो ढाई लाख वर्षों तक पर्यावरण को नुकसान पहुंचाता रहेगा? ज्यादातर परमाणु संयंत्र समुद्रों के पास लगाए जाते हैं ताकि पानी की विशाल मात्रा उपलब्ध होने के कारण पानी का तापमान न बढ़े और संयंत्र से निकलने वाला विकिरणयुक्त पानी समाज के सीधे उपयोग में न आ पाए।

अब यहां तो नर्मदा नदी के क्षेत्र में चुटका संयंत्र लगाया जा रहा है। इसका क्या मतलब है? फिर सक्रिय भूकंप वाले इलाके में इतना संवेदनशील संयंत्र क्यों लगाया जा रहा है? हमारे विशेषज्ञ, परमाणु ऊर्जा के समर्थक विद्वान और कंपनी तथा सरकार सीधे-सीधे इन सवालियों का उत्तर नहीं देना चाहते। ऐसे में चुटका, टाटीघाट, कुंडा, पता और भीलवाड़ा गांव के लोगों ने 24 मई को चुटका में जनसुनवाई ही नहीं होने दी।

राष्ट्रीय पर्यावरण अभियांत्रिकी अनुसंधान संस्थान, नागपुर द्वारा चुटका के बारे में बनाई गई रिपोर्ट पर मंडला जिले के चुटका (नारायणपुर) में

जनसुनवाई होना तय किया गया था। नियमानुसार लोगों को परियोजना से जुड़ी हुई जानकारी और दस्तावेज उपलब्ध करवाए जाने चाहिए थे ताकि वे उन्हें पढ़कर अपनी आपत्तियां भी दर्ज करा सकें। जंगल, पानी, पेड़-पौधों, चिड़िया और जंगली जानवरों के साथ जीवन जीने वाले इन आदिवासी बहुल गांवों के लोगों को अंग्रेजी भाषा में तैयार दो हजार छह सौ पन्नों का एक गट्ठर थमा दिया गया। वैसे आप इन्हें अशिक्षित मत मानिए। इन समाजों ने प्रकृति को पढ़ा है और उसी से अपने जीवन का ताना-बाना बुना है।

कुल मिलकर उन लोगों को फिर से उजाड़ने की तैयारी हो रही है, जिन्हें पहले भी नर्मदा पर बने बरगी बांध से उजाड़ा जा चुका है। इस परमाणु बिजली घर में संयंत्र को ठंडा रखने के लिए हर वर्ष 7.25 करोड़ घन मीटर यानी बहुत अधिक मात्रा में पानी नर्मदा नदी पर बने बरगी बांध से लिया जाएगा। इस बांध का निर्माण सिंचाई का रकबा बढ़ा कर प्रदेश में खाद्य सुरक्षा लाने के लिए किया गया था। यदि चुटका बिजलीघर के लिए इतना पानी लिया गया तो बरगी बांध से सिंचाई के लिए बहुत कम पानी मिलेगा। चुटका संयंत्र के लिए बांध में ज्यादा पानी का भंडारण किया जाएगा। इससे नीचे नर्मदा का जलप्रवाह कम हो जाएगा।

चुटका के लिए बनाई गई पर्यावरण रिपोर्ट में यह तथ्य नहीं दिया गया है



कि जबलपुर के पास के इसी इलाके को भूकंप की दृष्टि से संवेदनशील क्षेत्र घोषित किया जा चुका है। यहां अभी कुछ ही बरस पहले, 22 मई 1997 को रिक्टर स्केल पर 6.7 तीव्रता का एक भयानक भूकंप आ चुका है।

नर्मदा नदी से परमाणु संयंत्र के लिए सवा सात करोड़ घन लीटर पानी लेकर उसे वापस जलाशय में ही छोड़ दिया जाएगा। पूरी आशंका है कि इस पानी में रेडियोधर्मी तत्व मिल जाएंगे और पानी में विकिरण फैलता जाएगा। यह पानी बरगी जलाशय से आगे जाएगा और नर्मदा नदी में रहने वाली मछलियों, जलीय वनस्पतियों को तो प्रभावित करेगा ही, नर्मदा नदी के आसपास बसे पांच सौ गांवों और कस्बों को भी प्रभावित करेगा। नर्मदा के पानी से लाखों एकड़ खेतों की सिंचाई होती है। यदि ऐसा हुआ तो खेत से चौके तक पहुंची हर चीज पर खतरा हो सकता है।

आधुनिक शिक्षा यह सिखाती है कि अपने हित तथा अपने सुख पर

ध्यान दो और व्यापक सामाजिक हितों की बहस से दूर रहो। वह सिखाती है किसानों, मजदूरों और आदिवासियों के आंदोलनों से दूर रहना। ये सब राज्य विरोधी हैं और देश का विकास नहीं चाहते हैं।

यही कारण है कि चुटका के लोग हों या यूनियन कार्बाइड के द्वारा किए गए संहार से प्रभावित लोग, सभी को अपनी लड़ाई अकेले लड़ना पड़ता है। सोचिए जब ये शहर जलेंगे तो उस आग को बुझाने कौन आएगा? विकास की राजनीति ने शहर को गांवों के खिलाफ लाकर खड़ा कर दिया है।

पिछले 10 सालों से भोपाल और इंदौर के लोगों को नर्मदा नदी से पानी लाकर दिए जाने की परियोजनाएं चल रही हैं। पर वे नर्मदा नदी के अस्तित्व को लेकर कतई चिंतित नहीं दिखते। यह पानी भी चुटका परियोजना से होकर आएगा। आज इससे गांव बर्बाद होंगे, कल बारी शहर की भी आ सकती है।

**सचिन कुमार जैन**



# पत्र

गांधी-मार्ग जुलाई-अगस्त संपूर्ण पढ़ गया। बूंदी के लड्डू की तरह स्वाद दे गया। जिधर से चखो, उधर से मीठा। महात्मा गांधी की विचार आत्मा को जागृत करता हर शब्द। विचार बीज की तरह होता है, वह मरता नहीं। उसे अवसर मिले तो वह क्रिया में बदल जाता है। महात्मा गांधी के विचार प्रकृति के व्यवहार से उपजे हैं। करोड़ों वर्षों के अनुभव की देन हैं वे। मर नहीं सकते। उन पर आज जो धूल दिख रही है, वह समय की हवा के साथ उड़ जाएगी। दुनिया भर में उसका जागृत प्रभाव दिखाई दे रहा है।

गांधी-मार्ग के आलेख इसी सच्चाई को व्यक्त कर रहे हैं। खूंटी पर कोट टांग दिया, कैसी अमीरी, कैसी गरीबी, भोग उनका भोगना हमारा, इन्द्र धनुष लाओ तथा सभी टिप्पणियां दिल को छू गईं। तिलक वे लोकमान्य ही थे—गांधी की कलम से निकला यह आलेख उनके व्यक्तित्व को स्पष्ट करता है। इतनी अच्छी सामग्री के लिए साधुवाद।

सत्यनारायण भटनागर,  
2 एम.आई.जी. देवरा, देवनारायण नगर,  
रतलाम-457001 मध्य प्रदेश

\*

गांधी-मार्ग पढ़ते हुए लगता है कि गांधीजी से हमारी बातचीत जारी है। सरकारी दफ्तरों में टंगे फोटो और

खादी के कुर्तों के कर्मकांड से मुक्त कर आम जन के बीच गांधीजी की मौजूदगी और उनकी विचारधारा के विकास और उसकी प्रासंगिकता को यह छोटी-सी पत्रिका विनम्रता और प्रतिबद्धता से आगे बढ़ा रही है। यह सचमुच प्रणम्य है।

सितंबर-अक्तूबर अंक पढ़ते हुए भी ऐसा ही लगा कि जैसे विभिन्न लेखों के माध्यम से गांधीजी से समाज का संवाद जारी है।

मैं अपने को उन लोगों में शामिल मानता हूं, जिनके सपने मरे नहीं हैं। और हमारे सपने श्वेत-श्याम नहीं बल्कि इंद्रधनुषी हैं। एक ऐसी सामूहिक मुक्ति का सपना जहां समाज का सबसे कमजोर और पिछड़ा हमारे आदर्श की धुरी है। खुली आंखों से सपना देखने वाले लोग कटु सत्य को भी नकारते नहीं। और, सच्चाई यह है कि आदर्श भी जैसे 'कार्पोरेट कमोडिटी' में तब्दील हो गए हों। समाज सेवा एन.जी.ओ. कर्म में तब्दील हो गई है। जहां सामाजिक उत्थान की दिशा-दशा फंड देने वाला तय करता हो, वहां अहिंसक क्रांति निराशा के गहन कोहरे में सिसकती नजर आती है।

विश्वास-हीनता के इस माहौल में धीरेन्द्र मजूमदार का लेख जैसे एक

गहरी अंतःदृष्टि और संगठनात्मक पहल की स्पष्ट रूपरेखा सामने रखता है। संस्था या प्रतिष्ठान को विसर्जित कर तंत्र-मुक्त, निधि-मुक्त और सर्वजनाधार के सूत्र को एक अहिंसक क्रांति के लिए एक ऐसे स्वायत्त जन-निर्भर संगठनात्मक स्वरूप देने के बारे में मजूमदार जी के तर्क और विचार आश्वस्त करने वाले हैं। इस अद्भुत लेख को पाठकों के सामने लाने के लिए साधुवाद।

इस लेख ने एक और महत्वपूर्ण प्रश्न खड़ा किया है। क्रांति की अवधारणा में निबद्ध आमूल परिवर्तन के विचार का अधिष्ठान पारंपरिक स्वीकृति कैसे प्राप्त करेगा? लोक-शिक्षण का वह कौन-सा स्वरूप होगा जो उस आंतरिक परिवर्तन का आवाहन कर सकेगा? मित्राधार से संगठन को प्राण तो मिलेगा लेकिन समाज किसी भी क्रांति को आत्मघाती न मानकर इस प्रक्रिया में शामिल कैसे होगा? जहां हिंसा की भूमि को उर्वर बनाने के उपक्रम में सारा समाज एकमत हो, वहां सोपान जोशी के विचारोत्तेजक और महत्वपूर्ण लेख पर वही समाज कैसे प्रतिक्रिया व्यक्त करेगा?

सोपान जोशी एक के बाद एक महत्वपूर्ण लेख लिख रहे हैं। वे बधाई के पात्र हैं। मौजूदा लेख उर्वरता की हिंसक भूमि उम्दा शोधपरक लेख है। जिस तरह उन्होंने विज्ञान, समाज और नैतिक द्वंद्व को एक सटीक भाषा दी है, वह काबिले तारीफ है। इतने बड़े कैनवास पर तरह-तरह की बातों को उठा सकना और उसको निभा लेना उनकी सक्षम लेखकीय क्षमता के साथ-साथ उनकी परिष्कृत संवेदनशीलता का भी द्योतक है।

अनुपम मिश्र को जब लोग पर्यावरणविद् कहते हैं तो मुझे भाषा और समझ की सीमा समझ में आती है। समाज के मन को महसूस कर उसके आंतरिक स्पंदन को अपनी सहज और प्रवाहमय भाषा में रखने वाले का समाज कृतज्ञ रहा है। विद्वत परंपरा उसे दार्शनिक माने या न माने, समाज के हृदय में जिसने जगह बनाई वह समाज का हो गया। फ्रेंकेस्टाइन के दैत्य की जगह 'रावणा तोंडी रामायण' लेख आज के विकास की कहानी अधिक सटीक ढंग से व्यक्त करता है।

अंत में रमेशदत्त शर्मा के लेख धन धन धान्य की चर्चा भी करनी पड़ेगी। धान के ऊपर ऐसी सामग्री लाकर आपने बड़ा उपकार किया है। जानकारियों का जो खजाना इसमें समाहित है, वह कमाल है।

वागीश कुमार झा,  
ए-2/174, आया नगर,  
फेज-5, नई दिल्ली-110047

\*

गांधी-मार्ग की प्रति पर कुछ प्रतिक्रियाएं। प्रति परसों मिली। दूसरे ही दिन मैं पूरी पत्रिका को पढ़ गया। सदा की भांति एक नहीं, कई विचारोत्तेजक लेख, जो किसी विचारशील व्यक्ति के मन पर चोट करने वाले हैं। पत्रिका को धन्यवाद कि आपने मेरे दिवंगत मित्र रमेशदत्तजी की सारगर्भित रचना छपी है। इस अंक में मुझे इस बात की झलक भी देखने को मिली कि अपने देश में विकास के नाम पर हम सब कहां और किधर जा रहे हैं। सुधांशु भूषण जी का आलेख किसी भी राष्ट्रवादी सुसंस्कृत व्यक्ति को झकझोरने के लिए काफी है। उन्होंने विकट प्रश्न तो

खड़ा कर दिया पर इसका समाधान क्या है? समस्या विकट से विकटतर होती जा रही है। समय रहते इसका समाधान—समाज को, सरकार को ढूंढना पड़ेगा, अन्यथा गंभीर परिणाम भुगतना होगा।

उत्तराखंड में आए जल प्रलय से पत्रिका के इस अंक में नदियों तथा जल प्रबंध से संबंधित ऐसी यथेष्ट सामग्री है, जो एक प्रश्नवाचक चिह्न उपस्थित करती है— क्या हमारी राष्ट्रीय जलनीति गलत है? यदि हां, तो इसमें किस प्रकार का सुधार वांछित है? इसके लिए राजनेताओं के साथ राष्ट्रवादी विचारकों को, समाजसेवियों को तथा वैज्ञानिकों को पहल करनी होगी।

राधाकान्त भारती,  
56, नागिन लेक अपार्टमेंट,  
पीरागढ़ी, नई दिल्ली-87

\*

हम इतनी दूर हैं पर गांधी-मार्ग हमें निरंतर समय पर मिल रहा है।

गांधी-मार्ग के लेख मन को झंझोड़ देते हैं। समाज का सटीक चित्रण करते हुए वे समाज के थोथे आवरण को हटा देते हैं।

आज हमारा अपने आप से ही विश्वास उठ गया है। आत्मसम्मान नहीं है। हम अपने हर काम के लिए पश्चिम की स्वीकृति का ध्यान रखते हैं। हमारी सरकार भी इसी तरह चलती है। आज ऐसा लगता है कि केवल स्वार्थपूर्ति और पश्चिम की अंधी नकल ही लक्ष्य बन गया है। और इसे पाने के लिए सारे हथकंडे स्वीकार्य हैं।

स्वाधीनता का अर्थ स्वच्छंदता में परिवर्तित हो गया है। हर क्षेत्र-रिश्ते, व्यवहार, कार्य, मनोरंजन आदि में स्वच्छंदता ने घर कर लिया है। स्वतंत्रता

के साथ अनुशासन की अनिवार्यता को ताक पर रख दिया गया है। अब केवल निजी स्वार्थ रह गया है। मैं समझता हूँ कि 'डर' ने ही अंग्रेजों के राज को 'भला' बनाया था। हम केवल गुलामी में ही अनुशासित रहते हैं। उसका जीता-जागता उदाहरण है हमारे प्रवासी भारतीय।

गांधी-मार्ग में छपे पत्रों को पढ़ कर मन में आशा की किरणें जागती हैं। कभी-कभी मन करता है इन पत्रों के लेखकों से मिलूं। फिर हम सब मिलकर कुछ ऐसा करें कि हमारे ये विचार केवल विचार ही न रह कर कार्य में परिणित हों। कभी आता है मन में कि ऐसे लोगों की गोष्ठी की जाए और उसमें इस कार्य की रूपरेखा बनाई जाए। क्या ऐसा संभव हो सकता है? क्या लोग निस्वार्थ कार्य करेंगे? क्या राह में आने वाले कांटों और रोड़ों को देख सोच कर हतोत्साहित तो नहीं हो जाएंगे? फिर कवि रवीन्द्र की कविता याद आ जाती है, 'एकला चलो रे'

सुशील कुमार सराफ,  
नारायणी काम्प्लेक्स,  
57, एस.आर.सी.बी.रोड,  
गुवाहाटी-781001, असम

\*

मैं पत्रिका का नियमित पाठक हूँ। हरेक लेख व स्तंभ बहुत ही रोचक व जाग्रत लगते हैं। पत्रिका का मुझे बेसब्री से इंतजार रहता है। मैं इसे बड़ी ही जिज्ञासा से पढ़ता हूँ।

जुलाई-अगस्त में प्रकाशित गांधीजी और कुमार प्रशांतजी के लेख अद्वितीय एवं ज्ञानवर्धक लगे। प्रशांतजी का लेख गांधीजी के विचारों व आदर्शों को आत्मसात करने की प्रेरणा देता है।

यह सुखद संयोग है कि मुझे पिछले दिनों प्रशांतजी से भागलपुर, बिहार में आयोजित राष्ट्रीय युवा संगठन प्रशिक्षण शिविर में मिलने का सुअवसर प्राप्त हुआ है।

पुराना चावल और पोथी पढ़ि-पढ़ि स्तंभ वर्तमान समय के कुठाराघात को सहते हुए गांधीवादी परंपरा में विश्वास रखने का आत्मबल प्रदान करते हैं। यह सत्य अहिंसा के पुजारी की अमर-ज्योति है, जिसमें हम सभी प्रफुल्लित हो रहे हैं।

मैं इसे पढ़ता हूँ, संस्था के सदस्यों को पढ़वाता हूँ तथा अन्य साथियों को भी पढ़ने के लिए प्रोत्साहित करता हूँ।

गांधी-मार्ग प्रकाशन समूह के समस्त बंधुओं को हार्दिक शुभकामनाएं।

संतोष कुमार, अध्यक्ष,  
सर्वोदय सामाजिक संस्था,  
साहेबगंज, चंपानगर, भागलपुर-4 बिहार

\*

जुलाई अगस्त अंक। महात्मा गांधी द्वारा अपने राजनीतिक गुरु तिलक के व्यक्तित्व व कृतित्व पर दिए गए बयान में, उन मूल्यों, तत्वों की चर्चा है, जिससे किसी व्यक्तित्व का आंकलन किया जाना चाहिए। गांधीजी तिलक से संबंधित किसी पूर्वाग्रह से ग्रसित नहीं हो पाए। इस बात की अपार संभावना थी क्योंकि तिलक उनके राजनीतिक गुरु थे और गुरु के प्रति शिष्य का मोहित होना कोई बड़ी बात नहीं होती। गांधीजी का यह आग्रह अपने आप में अनोखा दिखता है कि किसी व्यक्ति का मूल्य आंकने का अधिकार आपके पास हो तो भी इसे उसकी विवाद वाली बातों को आंकने का आधार न बनाया जाए। उस व्यक्ति द्वारा शाश्वत मूल्यों

के लिए किए गए प्रयासों का ही आंकलन किया जाना चाहिए। विवादास्पद बातें भविष्य के लिए छोड़ देना चाहिए।

गांधीजी कहते हैं कि जीवित व्यक्ति का ठीक-ठीक मूल्य, उसका सच्चा महत्व उसके समकालीन कभी ठीक से कर नहीं सकते। समकालीन आंकलनकर्ता तटस्थ होते हुए भी पूर्वाग्रह के शिकार हो सकते हैं। तारीख, इतिहास इस बात का गवाह है। गांधीजी स्वयं इतिहासकार गिबन द्वारा प्रस्तुत राग द्वेष का उदाहरण प्रस्तुत करते हैं।

गांधीजी सादगी और त्यागवृत्ति को स्वराज्य का अभिन्न हिस्सा मानते थे। ये दोनों ही गुण तिलक और उनकी पीढ़ी के राजनेताओं में खूब दिखाई पड़ते हैं। लेकिन आजादी के बाद सादगी, सदाचार की यह संस्कृति गायब होती गई। हम पाखंड, स्वच्छंदता के भोंड़े दिखावे में फंसते गए। आज हमारी पूरी व्यवस्था अपनी संपूर्णता में पाखंड बन कर रह गई है।

गुजरात विद्यापीठ में छात्रों के बीच दिए गए अपने इस भाषण में गांधीजी छात्रों को समाज के प्रति चिंतनशील बनाते हैं। लेकिन आज की शिक्षा व्यवस्था विद्यार्थी को समाज के चिंतन से दूर आत्मकेंद्रित बना रही है। यहां सब कुछ भोग से प्रेरित है।

मेधा बहन का लेख परमाणु बिजली तथा उससे जुड़े प्रमुख सवाल उठाता है। आज जब दुनिया के विकसित देश लगातार परमाणु बिजली परियोजनाओं को छोड़ रहे हैं तो हम क्यों इस जहर को, उसके कचरे को अपना रहे हैं? पर्यावरण सहित संपूर्ण मानव जीवन को खतरे में डालकर परमाणु बिजली को अपना

मूर्खता है। हमें अपनी ऊर्जा जरूरतों के लिए ऊर्जा के अन्य स्रोतों की तरफ ध्यान देना होगा। केवल इतने से काम नहीं चलेगा। हमें तो एक ऐसी जीवन शैली की दिशा में आगे बढ़ना चाहिए जहां नवीकरणीय ऊर्जा स्रोतों से हमारा काम चल सके। ऊर्जा की खपत ही कम करनी होगी। मेधा बहन की भाषा सुंदर, सरल व दिल को छू जाने वाली है। कई बार भाषा विषय से भी आगे चलती है। वह भी सहजता, सरलता और संगीतमयता के साथ।

सुनीलजी का लेख 'भोग उनका भोगना हमारा' कई दृष्टियों से बेहद मजबूत है। प्रश्न खड़ा होता है कि क्यों बंगला देश सरीखे तीसरी दुनिया के देशों में ऐसे हादसे होते हैं? इन हादसों के बाद भी ये देश उसी दिशा में क्यों आगे बढ़ने पर अभिशप्त है? क्या इनके पास विकास का कोई ऐसा रास्ता नहीं है जो अपने प्राकृतिक संसाधनों का उपयोग कर एक आत्मनिर्भर अर्थव्यवस्था की नींव रख सके? जो अपने संसाधनों से विश्व की सेवा या चाकरी करने के बजाय अपने ही लोगों की सेवा कर सके। आज स्थिति यह है कि गरीब बताई गई दुनिया के लगभग तमाम देश डालर की लालच में अपने प्राकृतिक संसाधनों, जल-जंगल-जमीन का उपयोग विकसित देशों की सेवा के लिए करते हैं। गरीब देशों की सस्ती श्रमशक्ति अंततोगत्वा देशी-विदेशी बहुराष्ट्रीय कंपनियों की झोली भरती है।

विश्व बैंक, अंतराष्ट्रीय मुद्राकोष ने भी अर्थव्यवस्था की संरचना को ऐसे विकसित किया है कि गरीब देश उसमें फंसने के लिए मजबूर हैं। स्थिति यहां तक पहुंच गई है कि उपर्युक्त दोनों

वित्तीय संस्थानों द्वारा प्रशिक्षित नौकर अब इन गरीब मुल्कों के सत्ता संस्थानों के महत्वपूर्ण पदों पर पहुंचकर नीतियों को निकट से प्रभावित करने लगते हैं।

गरीब अमीर के बीच की खाई को बढ़ावा मिला है। इन देशों में हाशिए पर जीवन जीने वालों की संख्या में भारी इजाफा हुआ है। इस कुचक्र से निकलने के लिए एक ही रास्ता है। स्थानीय संसाधनों पर स्थानीय लोगों का हक हो। इस पर आधारित अर्थव्यवस्था की नींव रखी जाए। इसकी प्रेरणा हमें गांधीजी के हिंद स्वराज्य से मिलती है।

अरमान,  
कमरा सं. 119, एस.आर.के.  
होस्टल, जामिया मिलिया इस्लामिया,  
नई दिल्ली-110025

\*

गांधी-मार्ग जुलाई अगस्त 2013 के अंक में टिप्पणी 'चीजें बिकती हैं, विचार नहीं' पढ़कर बहुत अच्छा लगा। इस संबंध में मैं भी कुछ कहना चाहती हूं।

राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय में लगभग चार वर्ष बिताए। बहुत कुछ सीखा। कई प्रकार के देशी-विदेशी लोगों के तरह-तरह के प्रश्नों के उत्तर देने के लिए तैयार रहना पड़ता था। इन प्रश्नों में एक महत्वपूर्ण प्रश्न हुआ करता था संग्रहालय में सुरक्षित रखी गई गांधीजी की वस्तुओं के महत्व के बारे में।

मैं न तो संग्रहालय शास्त्र की विशेषज्ञ हूं, न गांधी-अध्ययन की। फिर भी उस प्रश्न का उत्तर देते हुए मैं कहती थी कि ये वस्तुएं हमें व्यक्ति से जोड़ती हैं, और व्यक्ति यानी उनका जीवन, विचार और कार्य। यदि हम उन

विचारों और कार्यों को, उसके पीछे रहे उद्देश्य को न जानें, उसे न समझें तो फिर इन वस्तुओं और बाजार में बिकती वस्तुओं के बीच का अंतर हम कभी नहीं समझ पाएंगे।

वस्तु, व्यक्ति और विचार का अटूट संबंध है। अपने विचारों के कारण व्यक्ति की महिमा है, और वही महिमा उनकी वस्तुओं को महत्वपूर्ण बना देती है। गांधीजी की वस्तुओं का व्यापार और नीलामी देखकर बहुत कष्ट होता है। कुछ लोगों का आग्रह है कि जिस किसी वस्तु से गांधीजी का नाम जुड़ा हो उसे भारत सरकार मुंहमांगा मूल्य देकर अपने देश में यानी भारत में ले जाए। इसके लिए तरह-तरह के तरीकों से सरकार पर दबाव डाला जाता है। विभिन्न विशेषज्ञों को जांच-पड़ताल के लिए विदेशों में भेजा जाता है। कमेटियां बनाई जाती हैं। इनमें सरकारी पदों पर बैठे हुए लोग होते हैं। एक-दो गैरसरकारी सदस्य भी रखे जाते हैं। लाखों, करोड़ों का सौदा होता है। बैठकें बुलाई जाती हैं।

गांधीजी ने बेशुमार पत्र लिखे थे। भारत भर में, अविभाजित हिंदुस्तान में वे कितना घूमे थे, कहां-कहां रह जाते थे, हरिजन बस्ती में भी और बिड़ला हाउस में भी; किसी मंदिर के प्रांगण में बने कमरे में भी और कारावासों में भी। आज भी देश-विदेश के ढेर सारे लोग गर्व से कहते हैं कि उनके नाना-दादा, चाची-मामी आदि गांधीजी से किसी न किसी प्रकार से जुड़े थे। उनकी इस्तेमाल की हुई चीजें कई जगहों पर होंगी। इनमें से कितनी असली हैं और कितनी नकली—यह भी जांच पड़ताल का एक महत्वपूर्ण मुद्दा है। जहां से जिसने कुछ बेचने का या नीलाम करने का ऐलान

किया, उसे खरीदने के लिए दौड़ जाने के बजाय क्या यह बेहतर नहीं होगा कि जो चीजें, जो पत्र जहां हैं, वहीं उन्हें सुरक्षित रखा जाए और उनके माध्यम से बापू को जानने समझने की कोशिश की जाए? गांधीजी के विचारों और कार्यों के प्रति लोगों को जागरूक करने में ऐसी वस्तुएं और उनकी रक्षा सार्थक होगी। खेदजनक बात यह है कि उपभोक्तावादी समाज और बाजार को बेचने-खरीदने में अधिक रुचि है, उस व्यक्ति के जीवनदर्शन में नहीं। जो बापू के प्रति आदर और श्रद्धा रखते हैं, वे अपने पास रखी हुई वस्तुओं को किसी संग्रहालय को उपहार के रूप में दे देते हैं। बाकी के लोग तो उसे भुनाने में लगे हैं।

मनुबहन गांधी की भांजी मीना जैन के पास गांधीजी और कस्तूरबा से संबंधित जो वस्तुएं पत्र, तस्वीरें, पुस्तकें आदि थीं, वह सारा अनमोल संग्रह उन्होंने दिल्ली स्थित राष्ट्रीय गांधी संग्रहालय को दे दिया है। संग्रहालय में इन सभी वस्तुओं को एक्सेशन नंबर दे कर उनका नाम, विवरण आदि लिख दिया गया। मीना जी से मिले अमूल्य संग्रह में मनुबहन द्वारा लिखी गई बीस डायरियां भी शामिल हैं।

संग्रहालय में इस तरह के पुराने कागज के रखरखाव की, टेम्प्रेचर कंट्रोल की सुविधा न होने के कारण डायरियों को नेशनल आर्काइव को सौंप दिया गया है।

गांधीजी से संबंधित सब कुछ राष्ट्र की और विश्व की धरोहर माना जाता है। लेकिन यह धरोहर तिजोरी में बंद रखने के लिए नहीं है। इक्कीसवीं शताब्दी में व्यक्ति और समष्टि के

सर्वांगीण विकास के लिए, सर्वोदय और अंत्योदय के लिए उसमें निहित विचारों को कार्यान्वित करने के लिए किस प्रकार के ठोस कदम उठाए जाएं, इसका दायित्व कौन लेगा— जैसे प्रश्न सामने खड़े हैं। पहले ही बहुत देर हो चुकी है। गोष्ठियां होती हैं, पर्चे पढ़े जाते हैं, गिने-चुने अखबारों में छोटी-सी खबर छप जाती है लेकिन उससे आगे क्या?

मेरे गुरु डॉ. दाइसाकु इकेदा कहते हैं कि पहले अपना लक्ष्य तय करो, फिर संकल्प करो कि उसे हासिल करना ही है। हासिल करने के लिए क्या-क्या कदम उठाने होंगे, उसे समझने के लिए प्रार्थना करो, मन को एकाग्र करके अपने भीतर झांको, बादल छंट जाएंगे, रास्ता जरूर दिखाई देगा। उसके बाद हिम्मत जुटाकर ठोस काम करो, ऐसा काम जो तुम्हें और तुम्हारे परिवेश को बदलने में सक्षम हो, जो विष को औषधि में बदल दे।

एक अकेला व्यक्ति सौ कदम आगे बढ़ जाए और लोग तालियां बजाएं उससे अच्छा है कि वह अपने साथ सौ लोगों को जोड़े और सबके सब एक साथ एक कदम आगे बढ़ें। यही है न समता और सद्भावनापूर्ण समावेशी संस्कृति!

वर्षा दास,  
2176, बी-2, वसंतकुंज,  
नई दिल्ली-110070

\*

मई-जून अंक। सभी लेखों में भरपूर जानकारी है। 'हे भगवान प्लास्टिक' लेख प्लास्टिक के चलन और

प्रदूषण में इसके योगदान को बहुत ही तर्क सहित दर्शाता है। इला बहन का लेख, 'महाजन के घर जन्मी एक मजदूर आत्मा' दार्शनिक पक्ष से प्रभावशाली लेख है। इसमें बहुत सारी अटल सच्चाईयों का बयान किया गया है। सबसे प्रभावशाली तो है गांधीजी के विचार 'संसार के हाथ बिक जाना'। इसमें गांधीजी ने भौतिक रूप से चिंतन-मंथन किया है। उन्होंने स्वयं के माध्यम से दर्शाया है कि गंभीरता एवं उससे उत्पन्न हुई कठोरता के कारण उन्होंने एक सेवक गंवा दिया। उन्होंने मनुष्य को विवेकहीन नहीं बल्कि विवेकशील बनने की प्रेरणा दी है। लेख 'जड़ें' आजकल के भारतीय समाज पर एक गंभीर विवाद आरंभ करता है।

गांधी-मार्ग दीर्घकाल से लोकहित जानकारी उपलब्ध करवा रहा है। इसका स्थाई कालम 'पुराना चावल' कई नए सवाल खड़े कर रहा है। इस पत्रिका के मूल्यवान लेखों में से कई लेख हम पंजाबी के त्रैमासिक 'जागो इंटरनेशनल' में अनुवाद कर छापते हैं, जिन्हें पंजाबी पाठक बहुत उत्साह के साथ पढ़ते हैं। पाठकों की सकारात्मक टिप्पणियां हमें और भी आगामी कार्यों के लिए यत्नशील होने के लिए प्रेरित करती हैं।

इस उच्चस्तरीय और भारतीय जनहितों की सही तर्जमानी करने के लिए गांधी शांति प्रतिष्ठान को मुबारकबाद देता हूं।

भगवंत सिंह, मुख्य संपादक,  
जागो इंटरनेशनल, आई- 109, लेन-5,  
मजीठिया इनक्लेव, पटियाला-147005





# Civil Society

हमें पढ़ें। हम आपको पढ़ते हैं।  
घर बैठे अपनी प्रति हर महीने प्राप्त करें।

- एक वर्ष ₹ 600  दो वर्ष ₹ 950  तीन वर्ष ₹ 1,300  
 संस्थाओं के लिए ₹ 1,000 एक वर्ष के लिए

नाम \_\_\_\_\_  
पता \_\_\_\_\_  
फोन \_\_\_\_\_ मोबाईल \_\_\_\_\_  
ईमेल \_\_\_\_\_

चैक इस नाम पर बनाएं: **CONTENT SERVICES & PUBLISHING PVT. LTD**

पता : The Publisher, Civil Society, E-2144, Palam Vihar, Gurgaon,  
Haryana-122017

ईमेल: [response@civilsocietyonline.com](mailto:response@civilsocietyonline.com) वेबसाईट: [civilsocietyonline.com](http://civilsocietyonline.com)

फोन : 09811787772, 011-46033825



रजिस्टर्ड नं 4545/57

सचमुच घर की लड़ाई । गृह युद्ध ।  
भाई ने भाई को मारा । दूर बैठे  
देशों ने दोनों को अपने-अपने हथियार  
बेचे, एक दूसरे को मारने के लिए ।  
नतीजा है कोई एक लाख लोग मारे जा  
चुके हैं और करीब 20 लाख लोग  
अपने घरों से उजड़ कर पड़ोसी देशों में  
शरणार्थी बन कर भटक रहे हैं ।  
सीरिया की इस भारी विपत्ति के पीछे सिर्फ  
संप्रदायों के सद्भाव की कमी नहीं है ।  
यहां तो पर्यावरण, प्रकृति के प्रति भी  
सद्भाव की कमी आई और सबका  
नतीजा निकला यह रक्तपात ।

